ओ३म्

उपनिषत् प्रकाश

(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य)

(भाष्यकार)

श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती

डा० धनीराम एम०ए०
द्वारा प्रदत्त

(अनुवादक)

श्री मास्टर अवधविहारीलाल चाँदापुर

(संशोधन तथा परिवर्द्धनकर्त्ता)

उपनिषत परिचय और भूमिका लेखक

श्री आचार्य विश्वश्रवा जी

"वैदिक रिसर्च स्कालर"

संस्थापक

वेदमन्दिर बरेली

नवम स स्करण १९४५ सवातीन रुपया
सजिल्द साढ़ेतीन रुपया

प्रकाशक
श्यामलाल सत्यदेव
वैदिक पुस्तकालय,
बरेली, लखनऊ

इस पुस्तक की नवम आवृत्ति तक २५००० प्रतियाँ निकल चुकी हैं।

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिङ्ग-वर्क्स
लाटूश रोड, लखनऊ

* ओ३म् *

भूमिका

प्रश्न—कोई भी मनुष्य किसी कार्य को बिना प्रयोजन के नहीं करता। तुम्हारे! इन ईशोपनिषद् आदि के अनुवाद करने का क्या अभिप्राय है। और इसमें किन-किन बातों का वर्णन होगा ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें। और इसी के लिए समस्त संसार के मनुष्य रात दिन प्रयत्न करते हैं। परन्तु वेद विद्या का ज्ञान न होने से सुख और दुःख के ठीक-ठीक साधनों को न जानकर दुखदायक वस्तुओं को सुखदायक समझकर दुःख उठा रहे हैं। और ईश्वर, जीव और प्रकृति के गुण कर्म और स्वभाव का ठीक ज्ञान न होने से मनुष्य-जीवन जैसे अनमोल रत्न को पशुओं की भाँति केवल पेट पालने में खो रहे हैं। सहस्रों मनुष्य इस विद्या के न जानने से ऐसे बुरे मार्ग पर चल रहे हैं कि जहाँ उनकी आयु की पूँजी को दूसरों के हाथ से एक मिनट भी शान्ति मिलना कठिन है। और सब दुःखों से छुड़ाकर सुख देनेवाले परमात्मा को मनुष्यों ने ऐसा भुला दिया है कि लगभग सर्व संसार में उस केठीक-ठीक स्वरूप के जाननेवाले बहुत ही थोड़े मनुष्य रह गए हैं। शेष सब मनुष्य विपरीति इसके कि ईश्वर के गुणों का वर्णन करें, उसकी निन्दा करते हैं। कोई उस सर्वसहायक और परम शक्तिमान् को आकाश के कोठे पर कैद कर रहा है। और विपरीत इसके कि उसके बिना आधीन हुए अपने कार्यों को बिना सहायता के करे, उसकी सहायता के लिए फ़रिश्तों और पैग़म्बरों की वाहिएँ भर रहा है। कोई उसकी पवित्र आत्मा को भक्तों

पर दया दिखाने वाला बता रहा है। और सर्व संसार की उत्पत्ति अपने रसूल के लिये बता रहा है। कोई ईश्वर के साथ लम्बी चौड़ी मिला कर पिता पुत्र और रुहुल कुदस के नाम से जीव ब्रह्म प्रकृति की सत्ता स्वीकार कर रहा है; कोई ईश्वर की सत्ता से विमुख होकर सृष्टि को अनादि बता रहा है और मुक्त मनुष्यों को तीर्थंकर और सिद्ध कहकर उन्हें मोक्ष शिला पर आसीन सिद्ध करता हुआ पुजवा रहा है।

तात्पर्य यह है कि चारों ओर ईश्वर, जीव के सम्बन्ध में ऐसा अँधेरा छा रहा है कि जब तक इन पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान संसार में न फैल जावे तब तक कोई मनुष्य भी सुख और शान्ति से जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। नियम मार्ग तक पहुँचने का कहना ही क्या है। सर्व संसार का धर्म कर्म और वंश की प्रतिष्ठा और सदाचार सब धन के सहारे आ रहा है। जिसके पास रुपया है वह सहस्रों प्रकार की बुराइयों के करने पर भी सदाचारी है। बिरादरी में उसके दुराचारों पर दृष्टि डालनेवाला कोई नहीं। और जिसके पास धन नहीं, वह किसी प्रकार भी संसार में प्रतिष्ठा के योग्य नहीं गिना जाता। इस अवस्था को देखकर प्रत्येक ब्राह्मण, साधु जन जिनके धर्म में रुपये का रखना भारी पाप समझा जाता था, धन के कमाने में लग गये। तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े धर्म प्रचारकों को भी धन कमाने की धुनि ने धर्म के मार्ग से पृथक् कर अधर्म के मार्ग का यात्री बना दिया। जिनके विश्वास पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार-सागर से पार लगाने के विचार में मग्न थे। वे लोग भी टके के ध्यान में फँसकर स्वयं अपनी आयु को भँवर में फँसा बैठे। ऐसी अवस्था को देखकर इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समस्त देशभाषा जाननेवालों को ईश्वर, जीव और प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के हेतु उपनिषदों का (जो ईश्वर के बनाए हुए वेदान्तों के व्याख्यान हैं) देशभाषा में अनुवाद किया जावे। और कुछ मित्रों के कहने से यह भी प्रतीत हुआ कि यह अनुवाद संक्षेप और केवल शब्दार्थ रूप में ही न किया जावे किन्तु जहाँ तक हो सके पूर्ण विस्तार के साथ ठीक प्रकार से और कुछ स्थानों पर आवश्यक आन्दोलन के साथ चलाया जावे। यद्यपि मेरी विद्या की योग्यता इस प्रकार की नहीं कि मैं इस

प्रकार के बोझ और उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य को सहनकर सकूँ, तथापि परमात्मा की सहायता के विश्वास पर चलने का उद्योग किया जायगा।

ईश उपनिषद् वास्तव में यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें सब मन्त्र ज्ञान-काण्ड के हैं। जहाँ तक विचार पड़ता है, सब उपनिषदों का मूल यही उपनिषद् है। क्योंकि यह उपनिषद् वेद के अन्त में है। इसी कारण से इसका नाम वेदान्त रक्खा गया। और शेष उपनिषद भी इसी कारण वेदान्त कहे जाते हैं। और व्यासजी ने ब्रह्म-सूत्रों में भी इसी के विषय से ब्रह्म-सिद्धि को लिया। इसीलिए उसका नाम भी वेदान्त-शास्त्र हुआ। दूसरा कारण इनको वेदान्त कहने का यह भी है कि वेद नाम ज्ञान का है और ब्रह्म के जानने में बुद्धि से पूरा काम नहीं चलता। और ब्रह्म-ज्ञान, ज्ञान की सब से अन्तिम श्रेणी है। क्योंकि प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, परन्तु उसके कार्य और ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसकी सत्ता का ज्ञान सर्व साधारण को हो सकता है। परन्तु ब्रह्म ऐसी सूक्ष्म वस्तु है कि जिसका ज्ञान भी इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकता, इस कारण से शब्द प्रमाण की आवश्यकता है। और आचार्य लोग वेद को सब से अधिक स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिए इन वेद के ब्रह्म के विषय में मन्त्रों और उनकी व्याख्या का नाम वेदान्त हुआ।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

ओ३म्

संपादक की भूमिका

(उपनिषत् शब्द का अर्थ)

श्रीशंकराचार्य जी ने उपनिषत् शब्द के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

(सदेर्धातोविशरणगत्यवसादनार्थस्य—उप नि पूर्वस्य क्विप् प्रत्य-त यान्तस्य रूपम्—उपनिषत्—इति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासि-ग्रन्थ प्रतिपाद्यविषया विद्योच्यते) अर्थात्—षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इस धातु से उप नि उपसर्ग पूर्वक उपनिषत् शब्द क्विप् प्रत्यय करके बनता है । और इस उपनिषत् शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या है परन्तु लक्षणा से ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाले ग्रन्थों को भी उपनिषत् कहते हैं ।

ये मुमुक्षवो·····विद्यामुपसद्य उपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणात्—हिंसनाद विनाश-नात·····मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयति····· ··गर्भवासजन्मजराद्युप-द्रववृन्दस्य लोकान्तरे यौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य—अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन··· ···।

अर्थात् षद्धातु के तीन अर्थ हैं—

१—विशरण=नाश करना । २—गति=प्राप्ति । ३—अव-सादन=शिथिल करना । इसी प्रकार 'उप' का अर्थ है प्राप्त होकर और नि का अर्थ है निश्चय ।

जिस विद्या को प्राप्त करके निश्चय पूर्वक अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और जरा जन्म आदि उपद्रव शिथिल होते हैं उस विद्या को उपनिषत् कहते हैं तथा उस विद्या का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों को भी उपनिषत् कहते हैं।

(उपनिषत् शब्द का प्रयोग)

उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु का प्रयोग क्रिया रूप में बहुत स्थानों में आया है। यथा—

उपनिषससाद = ऐतरेय आरण्यक २। २। ३।

उपनिषसाद = जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३। १। ३। ६—११।

उपनिषेदुः = जैमिनीय ब्राह्मण १४३, जै० उ० २। २। ४। ११।
षड्विंशब्राह्मण १। ४। ७।

उपन्यषीदन्=जै० ब्रा० ८५

ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपनिषत् शब्द का भी प्रयोग बहुत है। उपनिषदों में भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—

"उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदम-ब्रूमेति" (केन)

वेदान्त शब्द का भी उपनिषत् अर्थ में प्रयोग है। यथा—

"वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः" (मुण्डक)

यहाँ वेदान्त शब्द का अर्थ उपनिषत् है। तैत्तिरीय और छान्दोग्य आदि उपनिषदों में आसुर उपनिषत् और वेदोपनिषत् रूप से भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग है। (देखो तैत्तिरीय १। ११॥ छान्दोग्य ८। ८। ५॥)

उपनिषदों का बहुत सा भाग महाभारत के बाद का भी है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् 'तद्धैतद् घोर आङ्गिरस कृष्णाय देवकीपुत्राय' ३। १७। ६॥ में देवकी पुत्र कृष्ण का नाम आया है। उपनिषदों की संख्या ढाई सौ तक पहुँची है और अल्लोपनिषत् जैसी उपनिषत् तक का जन्म हुआ। जो यवन की सी कृति है।

(प्रामाणिक उपनिषदें)

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी ने 'ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक,' इन दस उपनिषदों को प्रमाण माना है। इन्हीं दस उपनिषदों पर श्रीशंकराचार्यजी ने भाष्य किया है। दूसरी श्रेणी की उपनिषदें 'श्वेताश्वेतर, कौषीतकी ब्राह्मण और मैत्री उपनिषत् हैं। बहुत-सी उपनिषदें तो संप्रदाय की धुन में ही लिखी गई हैं। उन प्रामाणिक उपनिषदों में भी कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें हम वैदिक आदर्श से गिरा हुआ कह सकते हैं जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् (५। १४। ७) में लिखा हुआ अभिचारकर्म किसी वैदिक को मान्य नहीं हो सकता। वेद के अतिरिक्त समस्त वैदिक साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं। गीता उपनिषत् दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सारा साहित्य प्रक्षेप से मिश्रित है। आर्य विद्वानों का साहस और परिश्रम अभी इतना नहीं है कि वे अपने मान्य सब ग्रन्थों की स्पष्ट मीमांसा कर सकें। मेरे मित्र पं० उदयवीरजी शास्त्री ने सांख्यदर्शन में प्रक्षेप के सम्बन्ध में पाण्डित्यपूर्ण बहुत कुछ लिखा है। बाली द्वीप में प्राप्त गीता में भी ७० ही श्लोक हैं। उपनिषत्, गीता, दर्शन, ब्राह्मण ग्रंथ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, आदिकों के असली मूलग्रन्थों का संपादन और उन पर प्रामाणिक भाष्यों के बनने का कार्य अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। इसका एकमात्र कारण आर्य जनता का आर्य विद्वानों को सहयोग न देना ही है। इधर-उधर की किताबों से बातें संग्रह करके वृथा पुष्ट बहुत ग्रन्थों के बनाने और खेंचतान करके सब ग्रन्थों पर टीका लिख मारने से मूर्ख जनता में चाहे महापण्डित मनुष्य कहलावे पर विद्वानों की दृष्टि में हास्य का ही पात्र मनुष्य बनता है। हमें कभी इस बात पर विचार करना चाहिये कि हमारे समाज में हज़ारों ग्रन्थों का निर्माण हुआ है उनमें से कितने ग्रन्थों का प्रभाव संसार के विद्वानों पर हुआ है।

स्वामी दर्शनानन्दजी की विशिष्टता

संभवतः कोई ही पण्डित शेष रहा होगा, जिसने उपनिषदों पर टीका न लिखी हो या लिखने का विचार न कर रहा हो परन्तु हमारी

दृष्टि में दो एक ही व्यक्ति आये हैं जिनकी टीका का कोई महत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार श्री पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज का प्रत्येक ग्रन्थ की टीका लिखने में स्पष्टीकरण उनकी अपनी विशेषताहै उसी प्रकार श्रीपूज्य स्वामी दर्शनानन्दजी की तर्कणाशक्ति उनकी अपनी विशेषता है। स्वामी दर्शनानन्दजीकृत उपनिषदें की टीका देखकर कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जो उपनिषदें ऋषि कृत हैं उनकी स्वामीजीकृत टीका भी उसी योग्यता की है अर्थात जिस प्रकार ऋषियों ने तर्क आदि द्वारा विषय को सिद्ध किया है। उनकी टीका लिखते हुए स्वामी दर्शनानन्दजी कुछ बातें अपनी ओर से अधिक लिखते हैं वे बातें भी उसी योग्यता की प्रतीत होती हैं। कठ उपनिषत के यम और नचिकेता के वर्णन में अच्छा प्रकाश स्वामी जी ने डाला है तथा (देखो मुंडक १। २। १२ ॥) प्रायः सारा ही उपनिषत्प्रकाश ऐसी बातों से भरा हुआ है। आर्य समाज के पहले के विद्वानों का यह स्वभाव था कि यदि ऋषि दयानन्द जी ने यजुर्वेद और ऋग्वेद का भाष्य कर दिया तो इन्हीं दो पर वेदभाष्य करने को कोई नहीं अड़ता था पं० क्षेमकरण दासजी त्रिवेदी ने अथर्ववेद पर भाष्य किया और पं० तुलसीराम जी ने सामवेद पर भाष्य किया। शिवशंकरजी काव्यतीर्थ ने ऋग्वेद पर भाष्य वहाँ से आरम्भ किया जहाँ से ऋषि दयानन्द का छुटा हुआ था। पं० भीमसेन जी ने आठ उपनिषदों पर भाष्य किया उसके अनन्तर शेष दो पर ही पं० शिवशंकरजी ने भाष्य किया। मैं तो विद्वानों से यही प्रार्थना करूँगा कि अब गीता उपनिषद आदि पर बहुत भाष्य हो चुके हैं वैदिक साहित्य में सहस्रशः ग्रन्थ पड़े हैं जिन का अनुवाद किसी ने नहीं किया। उन ग्रन्थों को भी अनुवाद करके पठन पाठन में लाओ। इससे अधिक कल्याण होगा। हाँ यह अवश्य है कि जिन ग्रन्थों पर बहुत से लोगों ने टीका लिखी है उन पर ही टीका लिखने से आप बिना परिश्रम भाष्यकार बन जावेंगे और जिन ग्रन्थों पर किसी ने अभी तक टीका नहीं लिखी है उन पर टीका लिखने में आपको कुछ परिश्रम भी करना पड़ेगा। परन्तु विद्वत्समाज में आपका स्थान ऐसा ही करने से बनेगा क्योंकि पिष्टपेषण भी दोष संसार में अभी समझा ही जाता है। या स्वामी दर्शनानन्द जी के

समान योग्यता हो कि चाहे अन्यों ने उस ग्रन्थ की टीका पूर्व की भी हो पर इस नवीन टीका को देखकर योग्य से योग्य व्यक्ति मुग्ध हो जावे। अन्य स्थानों पर लिखी हुई बातों को किसी ग्रन्थ की टीका में भर देने से नवीन साहित्य की वृद्धि नहीं हो जाती है। भाष्यकार वही है जो उस ग्रन्थ के रहस्य को खोले या मूल पुस्तक के शब्दों से बात को पुष्ट करे स्वामी दर्शनानन्द जी के भाष्य में सर्वत्र यही प्रवाह मिलेगा। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने समस्त साहित्य पढ़कर तथा अपनी आर्ष प्रतिभा से सिद्धान्त निश्चित किये हैं। उनकी यह अटल धारणा थी कि ऋषियों में मतभेद सिद्धान्तों में कहीं नहीं है। वैदिक साहित्य में वर्णन करने की शैली भिन्न भिन्न प्रकार की है जिससे श्रद्धाहीन व्यक्ति बहक सकता है। ऐसे स्थलों की व्याख्या स्वा० दर्शनानन्द जी ने बड़ी योग्यता से की है, जैसे देखो मुंडक उपनिषत् का प्रारम्भ 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, इत्यादि की व्याख्या। ऐसे स्थलों की टीका लिखते हुए बहुत व्यक्ति सिद्धान्तभ्रष्ट हो जाते हैं और वे पण्डित यह समझते हैं कि हम बहुत बड़े सत्यवक्ता हैं पर वे यह नहीं विचारते कि अन्य ऋषियो से या इस ही ग्रन्थ के अन्य स्थलों से जो विरोध हो जावेगा उसका भी उत्तर-दायित्व तुम पर कुछ है या नहीं। हर एक ग्रन्थ का अर्थ भी अमरकोष से ही नहीं हो जाता है। प्रत्येक साहित्य की अपनी शैली तथा शब्दों की प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की होती है। मुंडक उपनिषत् के 'तपसा चीयते ब्रह्म' यहाँ तप का ज्ञान ही अर्थ ठीक है जैसा आगे ही लिखा है कि "यस्य ज्ञानमयं तपः" देखो मुंडक १।१।८,९।

स्वामी दर्शनानन्दजी ने उपनिषद में परस्पर विरोध न हो तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों में मतभेद न हो इस बात को दृष्टि में रखकर उपनिषदों के शब्दों के अर्थ किये हैं। संस्कृत के विद्वानों को भी एक बार उपनिषत्प्रकाश अवश्य पढ़ना चाहिये। संस्कृत के पण्डितों में प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे हिन्दी की टीका नहीं देखते। मैंने स्वयं पहले कभी उपनिषत्-प्रकाश को नहीं पढ़ा था। मुझे आरम्भ से ही संस्कृत पढ़ाई गई थी। मैं हिन्दी भाषा केवल इसलिये जानता हूँ कि हिन्दी बोलनेवालों में रहता था अतः वह दोष

मेरे अन्दर भी था। प्रिय सत्यदेव ने उपनिषत्प्रकाश के संपादन का भार मुझ पर डालकर मेरा उपकार ही किया है। जो इसके पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

(पिछले संस्करणों में असावधानियाँ)

उपनिषत्प्रकाश के हिन्दी संस्करण कई निकल चुके हैं। अनेक प्रकाशकों ने इसे छापा है पर प्रत्येक संस्करण अशुद्धियों से भरा हुआ है। मैंने इस बात का यत्न किया है कि यह संस्करण पिछले सब संस्करणों से परिमार्जित निकले। मेरे पास यदि उर्दू का संस्करण होता तो मैं अधिक सफल होता। मुझे मास्टर अवधबिहारीलालजी के अनुवाद पर ही आश्रित होना पड़ा है। इसके अतिरिक्त यह भी असुविधा थी कि प्रेस का प्रबन्ध लखनऊ में हुआ और मेरा निवास बरेली था और इसके मुद्रणकाल में भी सारे भारत में प्रचारार्थ यात्रा भी करता रहा और इसका संपादन कार्य भी चलता रहा। तथापि पाठकों को थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ कि मैंने इस संस्करण को किस प्रकार शुद्ध किया है। उपनिषत्प्रकाश के छापने में स्वामी दर्शनानन्दजी के साथ प्रकाशकों ने बहुत अन्याय अब तक किया है। कहीं पदार्थ में अर्थ विद्यमान है पर मूल शब्द छूटा है जैसे 'यथा सुदीप्तात्' मुण्डक १२। १। १। में पदार्थ में 'सुदीप्तात्' शब्द छूटा है पर उसका अर्थ 'भली प्रकार जलती हुई' यह पदार्थ में विद्यमान है इस प्रकार के स्थल हमने पूर्ण कर दिये और कहीं-कहीं तो पदार्थ में शब्द और दोनों ही छूटे हैं जैसे मुण्डक १। २। १३। में 'शमान्विताय' यह शब्द भी पदार्थ में नहीं है और न इसका अर्थ ही वहाँ है। इसको हमने भावार्थ के आश्रय से ठीक कर दिया है। पर ये सब संशोधन हमने डरते डरते कुछ किये हैं और इस बात की प्रतीक्षा में हूँ कि पाठक तथा पण्डितवर्ग हमें किस दृष्टि से देखेगा। इस प्रतीक्षा के बाद द्वितीय संस्करण पूर्ण शुद्ध निकालेंगे यदि आर्यजगत का प्रोत्साहन हमें मिलेगा। कहीं-कहीं समस्त पदों को तोड़ तोड़ कर अर्थ छापा हुआ था, विभक्ति की भी दुर्दशा थी उसे हमने एकत्र करने का यत्न किया

है (देखो मुण्डक २ । २ । ७ ॥) 'प्राण शरीर नेता' की व्याख्या । जिन व्यक्तियों ने आरम्भ से अँगरेज़ी पढ़ी होती है, बाद में यदि वे संस्कृत पढ़ भी लेवें तब भी संस्कृत के शब्दों पर उन लोगों को अभ्यास नहीं होता है । वे प्रायः संस्कृत के शब्दों का गला घोटते हैं । ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा उपनिषत्प्रकाश के संस्करण निकले थे । इसमें उपरोक्त शब्द का बहुत प्रयोग है जो वास्तव में उपर्युक्त लिखा जाना चाहिये । इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हमने ठीक किये हैं । पर जो अशुद्ध शब्द हिन्दी भाषा में अशुद्ध लिखते-लिखते शुद्ध मान लिये गये हैं उन्हें हमने छोड़ दिया है जैसे 'आधीन' आदि शब्द जो वास्तव में शुद्ध शब्द 'अधीन' है ।

स्वामी दर्शनानन्दजी ने स्वामी शंकराचार्यजी के भाष्य को अच्छी तरह देखा था और जहाँ सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है । वैसे साधारण प्रकरणों में बहुत स्थानों पर दोनों में समानता भी है जैसे (देखो कठ उपनिषद् १ । १ । ७ ।) में 'त्रिणाचि केतः' इत्यादि की व्याख्या स्वा० शंकराचार्य की तथा स्वामी दर्शनानन्दजी की । इसी शैली को दृष्टि में रखते हुए हमने मुण्डक २ । १ । ७ में 'शरीर के दर्शन के लिये' इसके स्थान पर 'शरीर के संस्कार के लिये' कर दिया है ।

मुद्रण के कार्य में दूर रहकर विसर्ग और परसवर्ण को समझाना मेरे लिये कठिन था अतः वह ह्रन्तव्य है । यथाशक्ति इसे भी ठीक किया है । प्रूफ़ देखने का कार्य सत्यदेवजी ने ही किया है जो कि परिश्रम से किया है । कहीं-कहीं प्रेस कापी के बनाने में हमें अपनी बुद्धि पर ही अवलम्बित होकर कार्य करना पड़ा है पर पूर्ण देख-भाल कर हमने संशोधन किया है । जैसे मुण्डक २ । १ । ४ । में "हृदयम् = दोहे के स्थान में" यहाँ "हृदय के स्थान में" कर दिया है ।

मुंडक १ । १ । ८ । में 'अन्नम् = प्रकाश रूप अग्नि' के स्थान में 'आकाश रूप अग्नि कर दिया है । तथा मुंडक २।२।२। में लोकिनः = जो मनुष्यों में रहनेवाले मनुष्य पशु इत्यादि' यह पाठ था यहाँ हमने "मनुष्यों" के स्थान में "लोकों" कर दिया है । मुंडक २।२।२ में

"वोद्धव्यम्=मन से जानने योग्य" के स्थान में "वोद्धव्यम्=मन से ताड़ने योग्य" कर दिया है। परन्तु जहाँ शब्द और अर्थ दोनों छुटे हैं और किसी प्रकार भी भावार्थ आदि से सहायता नहीं मिलती है वहाँ हमने मौन ही धारण किया है। हमारा यह दावा नहीं है कि हमने सब बदलकर ठीक कर दिया है पर जो कुछ हमने शोधा है उसका उत्तरदायित्व हम पर अवश्य है।

वैदिक सम्पत्ति और उपनिषत्

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा ने पृष्ठ ४६६ से लेकर विस्तार के साथ उग्रतापूर्ण विवेचना उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखी है। उनका ऐसा मत है कि उपनिषदों में अवैदिक लोगों द्वारा बहुत मिश्रण हुआ है। वे लोग ऐसी रचनाओं को भी ऋचा कहते है जो वेद के वाक्य नहीं हैं। ऋचा शब्द वैदिकों ने केवल वेद मन्त्रों के लिये प्रयोग किया है पर प्रामाणिक उपनिषदों में भी इससे उलटा व्यवहार देखने में आता है। इन उपनिषदों में आसुर उपनिषदों की बातों का भी वर्णन है तथा असत् पहले था या नहीं इत्यादि सन्देहपूर्ण परस्पर विरुद्ध बाते भी लिखी हैं। काण्वशाखा में भी 'पूषन्नेकर्षे' इत्यादि पाठ बाहर का मिला हुआ है इत्यादि पाठकगण रघुनन्दन शर्मा के विचार वैदिक सम्पत्ति द्वारा ही देखें।

इस बात को मैं भी अनुचित समझता हूँ कि उपनिषदों की टीका लिखते हुए कुछ व्यक्तियों ने वेद और शाखा का संमिश्रण कर दिया है। वास्तविक बात यह है कि उपनिषदों का वर्तमान स्वरूप हमारे लिये वही हो गया जिन पर श्रीशंकराचार्य जी ने भाष्य किया। सुरेश्वराचार्य (मंडन मिश्र) के प्रभाव के कारण शंकराचार्य ने काण्वशाखा की ईश और बृहदारण्यक उपनिषत् का प्रचार किया था क्योंकि सुरेश्वराचार्य की काण्वशाखा थी। इस बात का अनुकरण करना आर्यविद्वानों के लिये आवश्यक नहीं है। शंकराचार्य के भाष्य से पूर्व बृहदारण्यक उपनिषत् पर भर्तृ प्रपंच का जो भाष्य था वह माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषत् पर

था। इसी अभिप्राय से पं० भीमसेन जी ने ईशोनिषद का भाष्य करते हुए मूल पाठ यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय रखा है क्योंकि प्रचलित उपनिषत् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है प्रत्युत काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। प्रत्येक उपनिषत् के पूर्व उपनिषत्परिचय में हमने उस उपनिषत् के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं। या तो यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को उपनिषत् मानकर भाष्य करना चाहिये जैसे पं० भीमसेन जी ने किया या काण्वशाखा के चालीसवें अध्याय को उपनिषत मानकर उस पर भाष्य करना चाहिये जैसा स्वा० दर्शनानन्दजी ने किया पर दोनों को मिलाकर एक नया मूल पाठ बनाकर भाष्य करना उचित नहीं है।

स्वामी दर्शनानन्द जी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक माण्डूक्य इन छै उपनिषदों पर ही भाष्य किया है यदि स्वामी दर्शनानन्द जी अन्य उपनिषनों पर भी भाष्य करजाते तो उपनिषदें बहुत स्पष्ट हो जातीं।

एक आवश्यक निवेदन

एक बार आर्यसमाज कानपुर के वार्षिक उत्सव पर मैं गया वहाँ एक सनातनधर्मी पण्डित मेरे पास आये उनके हाथ में आर्यविद्वानों द्वारा किये हुए उपनिषदों के सब भाष्य थे और सत्यार्थ प्रकाश भी। एक स्थल दिखाकर वे कहने लगे कि अमुक उपनिषद के इस स्थल का अर्थ स्वामी दयानन्दजी ने इस प्रकार किया है तथा आर्य पण्डितों ने इस प्रकार किया है और इनका भी परस्पर किसी का मिलता नहीं है। मैं इस बात का कुछ भी उत्तर न दे सका स्वामी दर्शनानन्दजी यदि उस उपनिषत् पर भाष्य करते तो संभव है वे इस बात पर विचार करते। वस्तुतः हमारा कर्तव्य है कि यदि हम उपनिषदों की टीका लिखने बैठें तो हमें इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिये कि उपनिषदों के जिन जिन प्रकरणों के अर्थ ऋषि दयानन्द ने किये हैं, उनको पहले देख लें। और यह रीति प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य करने में ध्यान देने योग्य है। इसके लिये आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द के लिखे सारे साहित्य में वर्णित ग्रन्थों के प्रमाणों की एक तालिका

तैयार हो। जब कभी कोई आर्य विद्वान् किसी ग्रन्थ पर भाष्य करना चाहे उसका कर्तव्य है कि उस ग्रन्थ के जितने प्रमाणों के अर्थ ऋषि दयानन्द ने किये हैं वे अर्थ ही उस स्थान पर आवें तो अधिक शोभा है। दो तीन वर्ष से इस तालिका का निर्माण मैं कर रहा हूँ और यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में दिये गये प्रमाणों के पते आदि के सम्बन्ध में किसी आर्य विद्वान् के पास जो सामग्री हो वह मुझे भेजदेवे। उन विद्वानों की परिषत् द्वारा ही वह 'दयानन्द प्रमाण प्रकाश' नाम का वृहद् ग्रन्थ प्रकाशित किया जायगा। इस तालिका के बनने के बाद प्रत्येक वैदिक ग्रन्थ पर भाष्य किये जावें और तब ही ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर महाभाष्य की रचना हो। इससे पूर्व जो भी कार्य होगा उसमें ऋषि की बातों से विरोध कहीं न कहीं आ ही जावेगा। यह मेरी निश्चित धारणा है। मैं नहीं चाहता कि आर्यजगत में किये हुए भाष्यों की ऋषि के साथ विरोध की मीमांसा करूँ। अस्तु

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए अन्त में हम अब तक बने समस्त उपनिषद् ग्रन्थों की एक बृहत् सूची अकारादि क्रम से देते हैं। प्रत्येक उपनिषद् का शाखा सम्प्रदायादि सम्बन्ध भी जो प्रचलित है दिखा दिया गया है। पाठकों के लिये यह सूची मनोरंजक होगी कि सत्य उपनिषदों के बाद संसार में कितनी उपनिषदों का निर्माण हो चुका है। इन शब्दों के साथ इस भूमिका को समाप्त करते हुए आर्यसमाज के विधाताओं और विद्वानों से प्रार्थना करूंगा कि वे विचार करें कि ऋषिवर ने जितने उपनिषदादि ग्रन्थों के प्रमाणों के जो अर्थ किये उनका कितना स्पष्टीकरण उन्होंने किया है और कितना अनुसरण उसका उन्होंने किया है।

वेदमन्दिर
९९ बाजार मोतीलाल
बरेली यू० पी०

आचार्य विश्वश्रवाः
वैदिक रिसर्चस्कालर

ओ३म्

उपनिषत् परिचय

उपनिषद् स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। जिस प्रकार भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है इसी प्रकार उपनिषद् भी वेदों, वेदों की शाखाओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों या आरण्यकों के विशेष भाग ही हैं। यह ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है प्रत्युत यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। स्वामी शंकराचार्य के काल में मूल वेद तथा उसकी शाखाओं में विवेक नहीं किया जाता था। स्वामी शंकराचार्य की दृष्टि में काण्वशाखा भी मूल यजुर्वेद ही था। अतः उन्होंने काण्व-शाखा के ही चालीसवें अध्याय को उपनिषद् के रूप में प्रचलित कर दिया। वास्तव में मूल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को ईशोपनिषत् के नाम से प्रचलित करना चाहिये था। सब उपनिषदों को मूलभूत ईशोपनिषत् है इसकी ही विशेष व्याख्या अन्य उपनिषद् हैं। यह श्रेय काण्व शाखा को न देकर सर्व विद्याकर मूल वेद को ही देना चाहिये था। किन्तु स्वामी शंकराचार्य की डाली हुई परम्परा को तोड़ने का साहस किसी को नहीं होता है। इस उपनिषत् को ईशोपनिषत् ईशावा-स्योपनिषत् वाजसनेयोपनिषत् आदि नामों से पुकारते हैं।

मूल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय तथा काण्व शाखा के चालीसवें अध्याय में भेद

यजुर्वेद का मन्त्रांक	यजुर्वेद का पाठ	काण्व शाखा या उपनिषत् का पाठ	काण्वशाख या उपनिषत् का मान्त्रांक
३	प्रेत्यापिगच्छन्ति	प्रेत्याभिगच्छन्ति	३
६	न विचिकित्सति	न विजुगुप्सते	६
१३	अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽ अन्यदाहुरविद्यायाः	अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया	१०
१७	हिरण्मयेन……योऽसावादित्ये पुरुषः सो ऽ सावहम् ओम् खं ब्रह्म ।	हिरण्मयेन…… तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ।	१५
१५	ॐ क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ।	ॐ क्रतोस्मर कृतꣳस्मर । क्रतो स्मर । कृतꣳस्मर	१७
	* यह मन्त्र मूल यजुर्वेद में नहीं है ।	* पूषन्नेकर्षे…… पुरुषस्सोऽहमस्मि यह मन्त्र काण्व शाखा में अधिक है ।	१६

— आचार्य विश्वश्रवा बरेली

कठ उपनिषत् परिचय

यजुर्वेद की एक सौ एक शाखायें हैं। शुक्ल और कृष्ण दो विभाग यजुर्वेद की शाखाओं में हैं। कृष्ण विभाग में एक कठ शाखा है उस से इस कठ उपनिषत् का सम्बन्ध है। यजुर्वेद की यह कठ शाखा मुद्रित हो चुकी है। इसका सम्पादन डाक्टर श्रौडर ने किया है। इस शाखा का ब्राह्मण ग्रन्थ गृह्यसूत्रादि सब साहित्य प्राप्त हो चुका है। कठों से सम्बन्ध रखने वाली एक लौगाक्षि स्मृति है। एक कठश्रुत्युपनिषत् भी है। विष्णु स्मृति भी कठों से ही सम्बन्ध रखती है। ये कठ शाखा वाले उत्तरदेश के हैं। कठ आरण्यक कठ प्रवर्ग्यब्राह्मण कुछ मुद्रित हो चुके हैं।

आचार्य विश्वश्रवाः

* ओ३म् *

कठोपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

(शब्दार्थ) (उशन्) मुक्ति की इच्छा रखनेवाला । (ह वै) भूत काल की घटनाओं को स्मरण दिलाने के वास्ते इन शब्दों का प्रयोग होता है । (वाजश्रवसः) वाजश्रवण नामी विद्वान् । (सर्ववेदसम्) जो उसके पास वाह्य धन था । (ददौ) वह उसने दानकर दिया । (तस्य) उस विद्वान् का । (ह) प्रसिद्ध । (नचिकेता) यह नाम है । (नाम) उक्त नामवाला । (पुत्रः) पुत्र । (आस) हुआ था ।

(अर्थ) वाजश्रवस नामी ऋषि ने मोक्ष की अभिलाषा से अपना सम्पूर्ण धन, गौ आदि पशु जो कुछ था (इस विचार से कि जब तक सम्पूर्ण पदार्थों को न छोड़ दें मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती) दान कर दिया । उस ऋषि का एक पुत्र नचिकेता

नामी था। इस प्राचीन गाथा को लोगों को मुक्ति के साधनों का उपदेश करने के लिये वर्णन करते हैं।

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) (तम्) उस नचिकेता। (ह कुमारम्) कुमार बालक को। (सन्तम्) उपस्थित को। (दक्षिणासु) दक्षिणाओं के। (नीयमानासु) नियम बद्ध दिए जाते हुये। (श्रद्धा) धर्म का विचार। (आविवेश) पैदा हो गया कि यह क्या काम मेरा पिता करने लगा है। (सः) उस नचिकेता ने। (अमन्यत) निज मन में ऐसा विचार किया।

(अर्थ) कुमारावस्था होने पर भी उस नचिकेता के मन में धर्म की श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसने विचार किया कि मेरा पिता यह धर्म के स्थान में क्या अधर्म करने लगा है क्योंकि यज्ञ की दक्षिणा में जो गौवें थीं वह बूढ़ी थीं और बूढ़ी गौओं के दान से धर्म के स्थान में अधर्म होता है। दान इस कारण दिया जाता है कि औरों को लाभ पहुँचे। जिस दान से लाभ के स्थान में हानि पहुँचे और देनेवाले को विदित हो कि इस दान से लेनेवाले का कोई लाभ नहीं होगा किंतु हानि पहुँचेगी, तो वह दान पाप है, जैसा कि आगे प्रकट होगा।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) (पीतोदकाः) युवावस्था में जिनका दुग्ध पिया जा चुका हो। (जग्धतृणाः) घास जिन्होंने खाया हो। (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका हो। (निरिन्द्रियाः)

जब संतान उत्पन्न करने से जो बहुत वृद्ध हो गई हों। (अनन्दाः) सुख और आनन्द से रहित जिसमें उन्नति न हो। (ते) वह। (लोकाः) शरीर जन्म। (तान्) उन जन्मों को। (गच्छति) जाता है अर्थात् इस प्रकार के जन्म में सुख का नाम भी नहीं उस आदमी को मिलता है। (ता ददत्) जो इस भाँति की वृद्धा गौ दान करता है।

(अथ) युवावस्था की दशा में जब गौ दूध देने योग्य और जंगल से घास चरकर निःशुल्क दूध पिलाती रही तब तो इनका दूध पीते रहे, जब वह बहुत बूढ़ी होने के कारण दूध देने के योग्य न रही तब उनको किसी पुरोहित अथवा पंडा को दान कर दिया। इस प्रकार के दान करनेवाले मनुष्य उन योनियों अर्थात् जन्मों को प्राप्त करते हैं कि जिन योनियों में आनन्द का नाम भी नहीं सुनाई देता, आनन्द मिलना तो दूर रहा।

प्रश्न—क्या दान करने से भी नरक मिलता है! हम गौ-दान करने का बड़ा माहात्म्य प्रायः सुनते हैं।

उत्तर—यह कृतघ्नता है गौ-दान करनेवाले की या 'गोदान' की क्योंकि जब तक उससे लाभ मिला उसको प्राप्त किया। अब जब कि लाभ मिलने की आशा न रही, तब दूसरे के गले मढ़ दिया। यह बहुत बड़ा पाप है। कृतघ्नता से बढ़ कर कोई पाप नहीं।

प्रश्न—कृतघ्नता को इतना बड़ा पाप क्यों माना?

उत्तर—क्योंकि इस पाप से मूर्खों के मन में नेकी से घृणा उत्पन्न होती है। वह जानते हैं कि अमुक मनुष्य ने उपकार किया था उसको यह फल मिला। अगर हम उपकार करेंगे तो हमारी भी वही दशा होगी। सुतराम् वह शुभ कामों से पृथक् रहते हैं। जिससे संसार में नेकी को बहुत हानि पहुँचती है। अतः संसार से भलाई दूर करना महापाप है।

स होवाच पितरं तत ! कस्मै मां दास्यसीति,

द्वितीयं तृतीयम् । तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

(शब्दार्थ) (सः) उस नचिकेता ने । (उवाच) कहा । (पितरम्) अपने पिता को । (तत्) प्रिय । (कस्मै) किसका । (माम्) मुझ को । (दास्यसीति) दोगे । (द्वितीयम्) अन्य को । (तृतीयम्) तीसरे को । (ह उवाच) उस बालक से पिता ने कहा । (मृत्यवे) मौत को । (त्वा) तुझ को । (तदामि) देता हूँ । (इति) यह ।

(अर्थ) इस विचार से नचिकेता ने अपने पिता से कहा कि तुम मुझको किसको दोगे । तब उसके पिता ने उत्तर दिया कि तुझको मृत्यु अर्थात् मौत को दूँगा । इसके दो अर्थ हो सकते हैं कि तूने उद्दण्डता की है, इस कारण तुझको जान से मार डालूंगा, या मृत्यु नाम किसी ऋषि का होगा उसको दूँगा । यदि प्रथम का अर्थ लिया जावे तो ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि उस नचिकेता ने ऐसा अपराध नहीं किया था जो मौत के योग्य होता । प्रथम तो नचिकेता ने इसका फल विचारा था कि पिता जिस भूल को करने लगा है, इसका फल पिता को दुःख होगा । इस कारण इसने कहा था कि मुझको किसको दोगे । क्योंकि पुत्र से अधिक मूल्य की वस्तु दूसरी हो नहीं सकती । पुत्र को उस दक्षिणा में देने से बुरा गोदान देने का पाप न होगा । क्योंकि अच्छा बुरा जो पास था सब ही दे दिया, यदि अच्छा न दिया केवल बुरा ही बुरा दिया, तो पाप लगेगा । जब कि नचिकेता सच्चे मन से कह रहा था तो उसके गले पाप किस प्रकार लग सकता है । जब इसका दोष नहीं, तो साधारण मनुष्य भी इस कठोर दंड को नियत नहीं कर सकता, तो ऋषि क्यों करने लगा था । अतः पहला अर्थ ठीक नहीं मालूम होता । दूसरी बात यह भी है कि मृत्यु को दूँगा ऐसा किस प्रकार कहते हैं, क्योंकि मौत के

अर्थ शरीर और जीव का वियोग है, शरीर तो यहीं आग में जला दिया जाता है, यदि गया, तो जीव गया। जीव का नाम नचिकेता नहीं और न जीव के देने का ही उसको अधिकार है, अतः ऋषि के कहने से और आगे के विषय से प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि ऋषि ने ऐसा शब्द कहा कि जिससे नचिकेता को दण्ड भी हो जावे अर्थात् वह डर भी जावे और ऋषि का कथन भी पूर्ण हो सके।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳ स्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति५

(शब्दार्थ) (बहूनाम्) बहुत से शिष्यों में। (एमि) प्राप्त करूँगा। (प्रथमः) प्रथम नम्बर। (बहूनाम्) बहुत से लड़कों में। (एमि) प्राप्त करूँगा। (मध्यमः) मध्यम संख्या किसी से बुरा नहीं। (किम्) कौन सा। (स्वित्) अधिकार। (यमस्य) मौत का ही। (कर्तव्यं) काम है। (यत्) जो। (मया) मेरे द्वारा। (अद्य) आज। (करिष्यति) करेगा।

(अर्थ) पिता की इस बात को सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि पिता ने यह आज्ञा क्यों दी। बहुत से लड़कों में जो मेरे साथ पढ़ते हैं मैं प्रथम हूँ और बहुत से लड़कों में मध्यम हूँ, मैं बुरा किसी दशा में नहीं। फिर मौत का कौन सा काम है जो मेरे द्वारा प्राप्त होगा। जिसके वास्ते मुझे पिता ने यह आज्ञा दी। क्योंकि ऐसी कठोर सजा का उसका देना इस ख़राबी से लोग बच जायें जैसा मैं ख़राब हूँ। या इस कारण से कि उसकी मौत से दूसरे का उपकार हो, सो मौत का कौन सा काम है जो आज मेरे मरने से पूर्ण होगा। इस कारण से नचिकेता डर गया और पिता को क्रोध में देखकर बोला—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवा जायते पुनः६॥

(शब्दार्थ) (अनुपश्य) मन में विचार कर देखो। (यथा) जैसे थे। (पूर्वे) पहले धीमान् लोग अथवा (प्रतिपश्य) विचार कर देखो जैसे पितादि सब चल दिये। (तथा) ऐसे। (परे) जिस प्रकार वह अपनी बात को मानते हैं अर्थात् जो कुछ दिया उस पर अमल करते हैं। (सस्यमिव) ऐसे ही। मर्त्यः हाल के विद्वान् भी बात पर अमल करते हैं, तुम अपने इस प्रण पर किसको दोगे अमल करो क्योंकि यवादि के खेत की भाँति कटनेवाला यह शरीर पच्यते पककर नाश हो जाता है। सस्य (भिव) और उसी खेत की भाँति। (आजायते) उत्पन्न होता है। (पुनः) दो बार।

(अर्थ) पिता को क्रोध की दशा में देखकर नचिकेता को विचार उत्पन्न हुआ कि क्रोध की दशा में मुझे मौत के देने को कह तो चुका है, परन्तु अब उससे हिचकिचाता है। तब नचिकेता ने कहा—हे पिता! तुम अपने बाप दादादि बड़ों की ओर देखो कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ा और अपने धर्म के वर्तमान काल के बिद्वानों की ओर देखो, वह भी प्रतिज्ञा भंग नहीं करते, जो कह देते हैं उसको पूरा करते हैं। अतः तुम मुझ को विना किसी चिन्ता के मौत को देदो, क्योंकि इस प्रण को पूरा न करना आपके वास्ते अच्छा नहीं है। जिस प्रकार खेत उत्पन्न होता है तब हरा भरा मालूम होता है, ऐसे ही समय पर पककर शुष्क हो जाता है, फिर दोबारा नाश होकर उत्पन्न हो जाता है। यही दशा इस शरीर की है। इसमें उत्पन्न और नाश दोनों ही होते हैं, कोई वस्तु ऐसी नहीं जो पैदा हो और नाशवान् न हो। इस कारण मेरी मौत की चिंता न करो। क्योंकि यह शरीर अनित्य है सदा रहनेवाला नहीं। धनादि भी नहीं रहते और मौत एक दिन अवश्य आनी है। इस कारण धर्म को संग्रह करने का उद्योग करो। ऐसी बात का पूरा न करना ठीक नहीं; तुम मुझको मौत को देदो। नचिकेता की इस दृढ़ता को देखकर पुराने ब्रह्मचारियों की दशा का पता चलता है।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताःशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

(शब्दार्थ) (वैश्वानरः) अग्नि की भाँति जिस ब्रह्मचारी का मस्तक चमकता हो। (प्रविशति) प्रवेश किया है। (अतिथि) नेक सदाचारी विद्वान् जिसके आने की कोई तिथि नियत नहीं। (ब्राह्मणः) ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ या ब्राह्मण के गुण कर्म स्वभाव वाला। (गृहान्) घरों में। (तस्य) इसकी। (एताम्) धर्मात्मा लोग प्रतिष्ठा करते हैं। (शांतिम्) शांति। (कुर्वन्ति) करते हैं। (हर) प्राप्त करो। (वैवस्वत) सूर्य के समान तेजस्वी! नचिकेता के लिये। (उदकम्) जल।

(अर्थ) नचिकेता के इन शब्दों को (जो उपरोक्त वर्णन किये गये हैं) सुनकर उसके पिता ने मृत्यु नाम आचार्य के पास भेज दिया। और जब नचिकेता जो ब्रह्मचर्य्य के ठीक पालन करने के कारण अग्नि की भाँति तेज रखता था। जिसने ब्रह्मचर्य्य तेज को प्राप्त किया था। जिस समय मृत्यु नामी आचार्य के भवन में प्रवेश किया, यद्यपि नचिकेता के मृत्यु आचार्य या यमाचार्य के भवन पर जाने की कोई तिथि नियत नहीं थी, इस कारण इस अतिथि को घर में प्रवेश होते देखकर मृत्यु नामी आचार्य की स्त्री ने जलादि देकर नचिकेता को शांति करना चाहा। परन्तु नचिकेता ने इस विचार से कि पिता ने मृत्यु के पास भेजा है और मृत्यु वहाँ पर नहीं, मृत्यु के मिले बिना अन्य कोई काम करने से पिता की आज्ञा पूर्ण नहीं होगी। अतः तीन दिन तक जब तक आचार्य नहीं आये बिना अन्न जल के उनके मकान पर निवास किया। सब के कहने पर भी पिता की आज्ञा के विरुद्ध करना उचित नहीं समझा।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य यहाँ मृत्यु का अर्थ मौत लेते हैं।

उत्तर—जिसके पिता का दसवाँ या जिसको दसवाँ कहते थे वह मौत का चिह्न कैसे हो सकता है। क्योंकि मौत कोई द्रव्य नहीं, किन्तु शरीर और आत्मा के वियोग का नाम है। और आगे जो इतिहास आता है वह स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है। भला मृत्यु का कौन सा घर है जहाँ जावे, उसकी स्त्री आदि कौन सी है। इसलिये यहाँ मृत्यु नाम एक आचार्य का है।

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳसूनृताञ्चइष्टापूर्ते पुत्र पशूꣳश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) (आशा प्रतीक्षे) जो वस्तु लाभदायक हो उसको इच्छा से माँगने का नाम आशा है। जिस वस्तु का स्वरूप ठीक प्रकार नहीं जाना इसके प्राप्त करने के इन्तिज़ार का नाम प्रतीक्षा है। (सङ्गतम्) सत्संग से जो फल प्राप्त होता है। (सूनृताम्) दया से कहा जाता है। (इष्टा पूर्ते) यज्ञादि कर्म का फल तथा बावली, कुवाँ, तालाब, वाटिका, उपवन लगाना आदि जो धर्म के काम हैं इसका फल। (पुत्र पशून्) बेटे और शिष्य। गाय, भैंस, बैल, घोड़े, आदि पशु। (सर्वाणि) सबको। (एतद्) सबके फल को। (वृङ्क्ते) नाश कर देता है वा भगाता है। (पुरुषस्य) पुरुष के। (अल्पमेधसः) जिसकी बुद्धि बहुत थोड़ी हो। (यस्य) जिसके। (अनश्न्) बिना खाये पिये। (वसति) रहता है। (ब्राह्मणः) परमात्मा अथवा वेद के जानने वाला या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ। (गृहे) घर में।

(अर्थ) जितनी लाभदायक वस्तु की अभिलाषा की है, प्रार्थना की है, जितनी अनजानी वस्तुओं की बाट देखनी है, जितना सत्संग करके फल प्राप्त किया है, जिस क़दर अग्निहोत्रादि यज्ञ किये हैं जितनी बावली बनवाई, कुयें खुदवाये,

बाग़ लगवाये और जो शुभ काम किये हैं अनाथालय बनवाये और अश्वादि जितने घर में पशु हैं इन सबको हानि पहुँचती है, जिस अल्प-बुद्धि के मकान पर आया हुआ वेद का जाननेवाला अतिथि बिना अन्न-जल पाये भूखा प्यासा लौट जावे। आशय यह है कि जिस मूर्ख के घर में विद्वान् अतिथि बिना खाये पीये रात्रि को रहे, उसको महापाप होता है। जिस प्रकार की आज्ञा अतिथि की सेवा की वेद ने प्रदान की है यदि इसी प्रकार मनुष्य उसका पालन करें तो संसार में से सब दोष दूर हो जावें और कोई देश भी अज्ञान से भरा हुआ दृष्टि न पड़े।

प्रश्न—क्या कारण है कि ब्राह्मण को भूखा रखने से इतनी हानि बताई ?

उत्तर—चूंकि ब्राह्मणों का जीवन विद्या और परोपकार के लिये हैं, इस हेतु जब तक विद्वानों और परोपकारों का संस्कार होता है तब तक वह विना किसी सामान के उपदेश करते हैं और जहाँ उनकी प्रतिष्ठा में कमी हुई वहाँ उपदेश के काम में विघ्न उत्पन्न हुआ। और उपदेश का काम बिगड़ने से दोष फैल जाते हैं। संसार के सदाचार को नियम में रखनेवाले ब्राह्मण ही हैं।

प्रश्न—आज कल तो अधिकतर ब्राह्मण निकृष्ट काम करते हैं।

उत्तर—ब्राह्मणादि गुण कर्म से होते हैं, जिनमें ब्राह्मणों का गुण कर्म स्वभाव नहीं वह ब्राह्मण नहीं कहला सकते।

प्रश्न—तुमने ब्राह्मण की संतान को ब्राह्मण बताया है।

उत्तर—जहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर किसी ब्रह्मचारी को ब्राह्मण कहा जावेगा वह मा बाप के कारण से होगा और दूसरे आश्रमों में गुण कर्म से।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्! स्वस्ति

मेऽस्तु, तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥६॥

(शब्दार्थ) (तिस्रः) तीन । (रात्रीः) रात तक । (यत् अवात्सी) जो उपवास किया है । (गृहे) घर में । (मे) मेरे । (अनश्नन्) विना खाये पिये । (ब्राह्मणः) हे ब्राह्मण । (अतिथिः) पूजा के योग्य जिसके आने का दिन नियत न हो । (नमस्ते-ऽस्तु) मैं तुम्हारा मान और सत्कार करता हूँ इसे स्वीकार करो । (नमस्यः) नमस्कार के योग्य । (ब्रह्मन्) ब्राह्मण के धर्म से युक्त । (स्वस्ति) कल्याण । (मे) मेरा । (अस्तु) हो । (तस्मात्) इस कारण से एक दिन के बदले । (प्रति) एक पहर । (त्रीन्) तीन । (वरान्) ख्वाहिशों की । (वृणीष्व) माँग ले ।

(अर्थ) जब यमाचार्य ने घर पर एक ब्राह्मण को तीन दिन तक उपवास करने का हाल सुना, तब उससे कहा—हे ब्राह्मण ? तू जो तीन दिन तक मेरे घर में विना खाये पिये रहा है और अतिथि का भूखा रहना गृहस्थ के वास्ते बड़ा पाप है । इस हेतु इस (अतिथि) पूजा के योग्य मैं तुम्हारी प्रतिष्ठा करता हूँ, मैं तुझ को नमस्ते करता हूँ । तुम इस पाप से मुझे बचाने के लिये तीन वर माँगो, जिससे मेरा कल्याण हो । क्योंकि अज्ञात पाप का प्रायश्चित्त होता है । मेरी अनुपस्थिति में जो तुमको कष्ट हुआ है, इस पाप से विना प्रायश्चित्त के मेरा कल्याण नहीं हो सकता । अतः तुम मुझसे तीन वर माँगो । जिससे तुम्हारे मन को जो दुःख हुआ है वह दूर हो जावे और मेरा पाप दूर हो जावे । जब तक तुम प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा नहीं करते, तब तक गृहस्थ धर्मानुकूल मेरा कल्याण कठिन है । एक-एक रात्रि के दुःख के बदले एक-एक वर माँग लो ।

मृत्यु के इस वाक्य को सुनकर नचिकेता तीन वर माँगने के वास्ते उद्यत हुआ, प्रथम वर यह माँगा ।

**शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्यु-
र्गौतमो माभि मृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्
प्रतीत, एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥**

(शब्दार्थ) (शांतसंकल्प) जिसके मन की चंचलता शांत हो गई हो। (सुमनाः) मन प्रसन्न हो गया। (यथा) जिस प्रकार। (वीतमन्यु) क्रोध नष्ट हो गया हो। (गौतमः) गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ मेरा पिता। (माअभि) मुझको। (मृत्यो) मृत्यु नाम वाले आचार्य। (त्वत्प्रसृष्टम्) तेरे भेजे हुए। (मा) मुझको। (अभि) सम्बोधित करके। (वदेत्) कुशलता पूछे। (प्रतीत) प्रसन्न होने का हाल पूछ चुप न रहे। (एतत्) यह जानकर वही नचिकेता है जिसको मृत्यु के पास भेजा था। (त्रयाणां) तीन वरों में से। (प्रथमम्) प्रथम। (वरम्) आवश्यकीय वस्तु है। (वृणे) माँगता हूँ।

(अर्थ) नचिकेता ने यमाचार्य से कहा कि—हे गुरु! जिस प्रकार गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ मेरा पिता मन के विकारों से मुक्त हो जावे, इसके चित्त में जो चिन्तादि हैं वह सब नष्ट हो जावें और ऊपर से प्रसन्न दृष्टि पड़े। और जब तुम्हारे भेजने से मैं जाऊँ तो मुझ से कुशल क्षेम पूछे। क्रोधादि के कारण चुप न रहे और मुझे जान करके कि यह वही नचिकेता है जिसकी मृत्यु के पास भेजा था सम्मुख होकर बोले। सबसे प्रथम वर उन तीनों में से मुझे यह है। चूँकि नचिकेता के मन में आरम्भ से पिता की मंगल कामना थी। उसने जो कुछ कहा था अपने स्वार्थ से नहीं किंतु पिता की मंगल कामना से। अतएव वरों में भी प्रथम उसने वही वर माँगा जिससे उसका पिता क्रोध से बच जावे। जिस क्रोध से पिता ने पुत्र को मृत्यु को देने का प्रण कर लिया था। दूसरे पिता की शांति से मन को शान्ति का वर माँगा। क्योंकि जिस शांति के वास्ते पिता

ने इतना पुरुषार्थ किया था और सब कुछ दान किया था उसी शांति की पुत्र ने इच्छा की और जाना कि मुझ से वह अप्रसन्न न रहे। भारत की पुत्र-भक्ति तो दुनिया में अनुपम है। कोई अयोग्य पुत्र भारत में कम मिलेगा जो पिता को दुःख देना चाहता हो, जिसके मन में उसको सुख पहुँचाने का विचार न हो।

नचिकेता के इस वर माँगने पर मृत्यु आचार्य यह कहते हैं—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत, औद्दालकि रारुणिमत्प्रसृष्टः। सुखंरात्रीः शयिता वीत-मन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्॥ ११॥

(शब्दार्थ) (यथा) जैसे प्रेम से युक्त। (पुरस्तात्) जैसे पहले था। (भविता) हो जायगा। (प्रतीतः) यह जानकर कि वही नचिकेता है। (औद्दालकिः) उद्दालक। (आरुणि) अरुण की संतान वाजश्रवस तेरा पिता। (मत्प्रसृष्टः) मेरे बताने से या सूचना पहुँचाने से। (सुखम्) सुख से मन प्रसन्न हुआ। (रात्रीः) रात को। (शयिता) सोनेवाला होगा। (वीतमन्युः) क्रोध से रहित होकर। (त्वाम्) तुझ नचिकेता अपने पुत्र को। (ददृशिवान्) देखेगा। (मृत्युमुखात्) मृत्यु के मुख से। (प्रमुक्तम्) छूटा हुआ।

(अर्थ) नचिकेता को मृत्यु आचार्य ने वर दिया कि जिस प्रकार तेरा पिता पहले प्रसन्न था ऐसे ही तुझको पहिचान कर कि यह वही नचिकेता है प्रसन्न होगा। और रात को पहले की भाँति सुख से सोवेगा और उसका (तेरे पिता का) सब क्रोध दूर होगा। जितनी बातें नचिकेता ने माँगी थीं उतनी ही यमाचार्य ने उसको दे दीं। अब दूसरा वर नचिकेता ने माँगा।

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति, न तत्र त्वं न जरया विभेति। उभे तीर्त्वा अशनाया-पिपासे, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१२॥

(शब्दार्थ) (स्वर्गे) सब से अधिक सुख जिस स्थान पर मिले उसे स्वर्ग कहते हैं। (लोके) जो यज्ञादि कर्म के फल से देखने योग्य जन्म या विशेष स्थान सुख का हो। (न) नहीं। (भयम्) भय। (किंचन) किसी प्रकार का। (न) नहीं। (अस्ति) बुढ़ापे का। (न) नहीं। (तत्र) स्वर्ग में। (त्वम्) तुम बताओ। (न) नहीं। (जरया) बुढ़ापे से। (विभेति) भय पाता है। (उभे) दोनों को। (तीर्त्वा) तरके। (पिपासे अशनाया) भूक प्यास से। (शोकानिगोमोदते) शोक से रहित होकर आनन्द भोगता है। (स्वर्गलोके) स्वर्ग लोक में।

(अर्थ) स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं है क्योंकि न तो वहाँ मौत है और न बुढ़ापा है। जहाँ सुख तो हो और दुःख का कोई सामान न हो और भय का कारण मौत है अगर मौत न हुई तो भय किस बात का। जहाँ बुढ़ापे का चिन्ह ही नहीं। क्योंकि बुढ़ापे को देखकर भय उत्पन्न होता है कि मैं मरूँगा, परन्तु बुढ़ापा नहीं। और भूख प्यास से दुःख होता है और दुःख से भय होता है। परन्तु स्वर्ग में न भूख है, न प्यास, न शीत है, न उष्णता, न मान है; न अपमान। सारांश यह कि किसी प्रकार की सामिग्री नहीं जिससे कोई भय हो। अतएव शोक से रहित आनन्द और प्रसन्नता पूर्वक स्वर्ग लोक में रहते हैं। अब इस स्वर्ग लोक की दशा यह है। परन्तु स्वर्ग का सुख मुक्ति से फिर भी कम है, ऐसा विद्वानों ने सुना है। एवम् आप बतावें कि स्वर्ग और मुक्ति की वास्तविक दशा क्या है। जब कि स्वर्ग में कोई दुःख ही नहीं और प्रत्येक भाँति का सुख सम्पादित है। तो मुक्ति में उससे क्या विशेष

बात है जिससे शास्त्रकार मुक्ति को सब सुखों से उत्तम सुख मानते हैं। आप इसकी वास्तविक दशा (मूल तत्व) को जानने वाले हैं, इस कारण जो मूल बात हो मुझसे कहें।

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो ! प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

(शब्दार्थ) (स त्वं) वह तू। (अग्निम्) अग्नि को। (स्वर्ग्यम्) जो स्वर्ग के प्राप्त करने का कारण है। (अध्येषि) जानता है। (मृत्यो) हे मृत्यु नामी आचार्य। (प्रब्रूहि) बतला जिससे। (तम्) उस स्वर्ग के कारण अग्निहोत्रादि यज्ञ को। (श्रद्दधानाय) श्रद्धा रखनेवाले। (मह्यम्) मुझ को। (स्वर्गलोकाः) जिन यज्ञ करनेवालों को स्वर्ग का दर्शन हुआ है या स्वर्ग लोक में गये हैं। (अमृतत्वं) मौत से रहित जो लोग शरीर के अभिमान से रहित हैं, वह कभी मरते ही नहीं। क्योंकि मौत शरीर और जीव की वियोगता का नाम है। उन्होंने ज्ञान जीव और शरीर को प्रथम से पृथक् जाना है। (भजन्ते) भोग करते हुए। (एतत्) यह। (द्वितीयेन) दूसरे के कारण से। (वृणे) माँगता हूँ। (वरेण) वर के कारण से।

(अर्थ) नचिकेता ने फिर कहा कि हे यमाचार्य! जिस अग्निहोत्रादि यज्ञों से स्वर्ग प्राप्त होता है, आप उसको जानते हैं; क्योंकि यज्ञों में प्रधान वस्तु जो अग्नि है, उसको आप से पूछता हूँ वर्णन कीजिये। और जो कर्मों के फल से स्वर्ग लोक में जाते हैं उनको अधिक काल तक सुख से जीवन मिलता है और वह सब प्रकार आनन्द भोगते हैं। क्योंकि थोड़े जीवन के सम्बन्ध से बहुत दिन का जीवन अमृत कहलाता है। यथा देर तक रहनेवाली वस्तु को दृढ़ कहते हैं। यद्यपि कोई भी

उत्पन्न हुई वस्तु नित्य नहीं, अतएव दूसरे वर से अग्निहोत्रादि स्वर्ग के कारण यज्ञों की साधक अग्नि को जानना चाहता हूँ। पहले वर से तो नचिकेता ने पिता के सुख की इच्छा की, जो धर्म का सब से बड़ा अङ्ग है, क्योंकि देव कार्यों में माता पिता और आचार्य को देवता माना है।

दूसरे वर में अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधनों को जानने की इच्छा की इस श्रेणीवद्ध प्रश्न करने से नचिकेता की बुद्धि का पता लगता है कि वह कैसा उत्तम ब्रह्मचारी था। ज्ञान का प्रमाण श्रेणी का ठीक प्रकार नियत करना ही है वैसे तो प्रत्येक मनुष्य ही क्या बल्कि पशु भी कह सुन सकता है। नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर यमाचार्य देते हैं।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध, स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां, विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

(शब्दार्थ) (प्र ते) विशेष रूप से तेरे लिये। (ब्रवीमि) कहता हूँ। (तदु) उसको। (मे) मुझसे। (निबोध) ठीक प्रकार समझ। (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग के प्राप्त करने का कारण। (अग्निम्) अग्नि को। (प्रजानम्) जानता हुआ। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (अनन्त लोकाप्तिम्) अनन्त जीवन का कारण (यहाँ अनन्त शब्द अधिक अर्थ में प्रयोग हुआ है) (प्रतिष्ठाम्) सम्पूर्ण संसार के स्थिर होने का जो कारण है अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से जगत् स्थिर है। सब के स्थान का कारण अग्नि। (त्वम् विद्धि) जान तू। (एतम्) इस प्रत्यक्ष अग्नि को। (निहितम्) नियत होकर। (गुहायाम्) बुद्धि में।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं हे नचिकेता ! मैं जो कुछ स्वर्ग के साधन अग्नि के विषय में जानता हूँ जो अग्नि अनन्त अर्थात्

बहुकाल जीवन का कारण है, क्योंकि अनन्त प्राणों का नाम है जो अग्नि से काम करते हैं और सम्पूर्ण संसार के नियत रहने का कारण यही अग्नि है। सम्पूर्ण गोले जिस केन्द्र की परिक्रमा कर रहे हैं वह सूर्य है, यदि सूर्य न हों, तो सम्पूर्ण सूर्य सम्बन्ध बिगड़ जावे। हे नचिकेता! तू इस मेरे बताए हुए विषय को बुद्धि को स्थिर करके समझ। क्योंकि कठिन विषय चंचल मन की दशा में समझ में नहीं आते।

प्रश्न—आचार्य ने जो कहा कि मैं जानता हूँ, तो इसको सुनकर बुद्धि को स्थिर करके समझ गया। आचार्य को अभिमान था जो ऐसा कहा।

उत्तर—आचार्य को अभिमान नहीं था, किन्तु शिष्य-श्रद्धा को उस विद्या में स्थिर करने के वास्ते ऐसा कहा।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त, मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

(शब्दार्थ) (लोकादिम्) लोकार्थ में दोष का कारण कौन है। (अग्निं) अग्नि विना दोष के कोई वस्तु दृष्टि नहीं पड़ती। (तम्) उस नचिकेता को। (उवाच) बहु प्रकार की युक्ति और उदाहरणों से समझाया। (च) जिस कदर। (वा) जितनी गिनती चार। (यथा) जिस प्रकार। (इष्टकाः) ईंट चुनकर अग्नि होत्र के लिये या दूसरे यज्ञों के अर्थ वेदी अर्थात् हवन-कुण्ड बनवाना चाहिये। (स) वह। (च) और। (अपि) भी। (प्रत्यवदत्) नचिकेता ने उसका अनुवाद कर दिया अर्थात् दोहरा दिया जैसा कि मृत्यु आचार्य ने बतलाया था जो शब्द जिस स्थान पर मृत्यु आचार्य ने कहा था वैसा ही नचिकेता ने अनुवाद कर दिया। (यथोक्तम्) कथनानुकूल सुनकर। (अथ) इसके पश्चात्। (अस्य) इसको। (मृत्युः)

आचार्य ने। (पुनः) फिर। (एव) भी। (आह) कहा। (तुष्टः) प्रसन्न होकर।

(अर्थ) सम्पूर्ण लोक का कारण अग्नि है। जिस प्रकार प्रकाश समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है और बिना प्रकाश अर्थात् अग्नि के किसी वस्तु का लोक नाम ही नहीं हो सकता। पृथ्वी लोक है, कब जब कि तेज से उसमें रूप प्रवेश हो गया है। यदि पृथ्वी में अग्नि न हो तो कभी पृथ्वी दृष्टि ही नहीं आ सकती। सूर्य, चन्द्र, तारागण जितने पदार्थ संसार में दृष्टिगोचर होते हैं, उन सब में अग्नि है इसका कारण लोक का कारण अग्नि है। यमाचार्य ने अग्नि के भेद और उसके काम बता दिये। और जितनी ईंटों का और जितना बड़ा और जिस भाँति का अग्निहोत्र का कुण्ड बनाना चाहिये सब विधान यज्ञ का बता दिया। इस बात को सिद्ध करने के वास्ते कि नचिकेता इस विद्या के समझने योग्य है। और जो कुछ यमाचार्य ने करा है इसको नचिकेता ने ठीक प्रकार समझ लिया है। नचिकेता ने इसको यमाचार्य के सन्मुख द्वितीयावृत्ति में एक एक शब्द ज्यों का त्यों सुना दिया। जिससे यमाचार्य को नचिकेता के पूर्ण उपकारी होने का पता लग गया। और इसने प्रसन्न होकर फिर कहना आरम्भ किया।

पाठक! इस लेख से पता लगता है कि ब्रह्म विद्या के परोपकारी ऐसे ही मनुष्य हो सकते हैं कि जिनकी बुद्धि इतनी शुद्ध हो कि इनको कैसा ही कठिन विषय क्यों न समझाया जावे वह एक ही बार सुनने से समझ सकें। नचिकेता ने इस परीक्षा को उत्तीर्ण करके मृत्यु आचार्य को प्रसन्न कर लिया। नचिकेता की बुद्धि का प्रमाण इसके धैर्य की अवस्था और स्मरण शक्ति की योग्यता बताती है कि गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण ऐसे होते हैं।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा, वरं तवेहाद्य

ददामि भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः, सृङ्कांचेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

(शब्दार्थ) (तम्) उस नचिकेता को । (अब्रवीत्) कहने लगा । (प्रीयमाणः) प्रसन्न हुआ प्रेम से योग्यता को देखकर । (महात्मा) यमाचार्य जिसका आत्मा बड़े उच्च बिचार वाला है । (वरम्) श्रेष्ठ पदार्थ । (त्वाम्) तुझको । (इह) उस दूसरे वर के अन्दर । (अद्य) आज । (ददामि) देता हूँ । (भूयः) फिर से । (तव) तेरे । (एव) ही । (नाम्ना) नाम वाली । (भविता) होगी अर्थात् तेरे ही नाम पर यह अग्नि-विद्या प्रसिद्ध हो जावेगी । (अयम्) यह । (अग्निम्) अग्नि विद्या । (सृङ्काम्) माला को जो प्रतिष्ठा का चिन्ह है, जिसको सभा में सत्कार करते हैं इसके गले में माला डाल देते हैं । (इमाम् अनेक रूपाम्) इस बहु रंगों युक्त माला को जो अब तक रंगों से सुन्दर मालूम होती है । (गृहाण) ग्रहण कर जिससे बहुत दिन तक जीवे ।

(अर्थ) इस नचिकेता की स्मरण शक्ति तथा योग्यता को देखकर यमाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुआ और प्रेम से महात्मा यमाचार्य बोला—हे नचिकेता ! आज मैं तुम से बहुत ही प्रसन्न हूँ और बहुत से वर दूँगा । और यह अग्नि-विद्या जिससे यज्ञ की विधि और साधनों का कथन है, तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी । अर्थात् मनुष्य इस विद्या को नचिकेता अर्थात् नचिकेता से सम्बन्ध रखने वाली पुकारेंगे । और यह माला जो कार्य सिद्धि के समय प्रतिष्ठा के वास्ते दी जाती है जिसमें बहु रंग मन के हैं जिससे तू सुख को भोगेगा स्वीकार कर ।

प्रश्न—महात्मा किसको कहते हैं ? क्योंकि जीवात्मा एक देशी अर्थात् सीमायुक्त है और एक देशी के वास्ते यहाँ शब्द (महात्मा) आ नहीं सकता ।

उत्तर—निस्संदेह जीवात्मा एक देशी है, परन्तु महात्मा

शब्द बुद्धि के विचार से होता है, जिसकी बुद्धि प्राकृत पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखती है। इसका अपना और पराया दो प्रकार का ज्ञान होने से विचार सीमायुक्त होता है। और जिसकी बुद्धि परमात्मा की ओर लग जाती है उसकी आत्मा सारे संसार में परमात्मा के गुणों को देखने से सब को एकरस देखता है। अतः इसका बिचार यहाँ होने से वह महात्मा कहलाता है।

प्रश्न—क्या जिनके विचार में अपना पराया पन हो वह महात्मा नहीं कहला कहते ?

उत्तर—गुण कर्म से तो नहीं कहला सकते परन्तु नाम हो सकता है। जैसे कंगाल का नाम भी धनपति देखने में आता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं, त्रिकर्मकृत-रति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा, निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

(शब्दार्थ) (त्रिणाचिकेतः) जिस अग्निहोत्रादि का नचिकेता को उपदेश किया है, जिसको इसका तीन बार अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम में जिसने अग्निहोत्र किया हो। (त्रिभि) माता पिता और आचार्य तीन जिसके गुरू हों। (एत्य) प्राप्त की हो। (सन्धि) जिसने सत्सङ्ग किया हो अथवा संसार में मिलाप का प्रचार किया हो। (त्रिकर्मकृत्) जिसने तीन धर्म के स्कंध अर्थात् यज्ञ पढ़ना और दान किये हों। (तरति) तर जाता है। (जन्म मृत्यू) जन्म और मौत को। (ब्रह्म जज्ञ) जिससे ब्रह्म अर्थात् वेद उत्पन्न हुए हैं इसको जिसने जाना है। (देवम्) प्रकाश स्वरूप परमात्मा। (ईड्यम्) स्तुति करने योग्य। (विदित्वा) जानकर (निचाय्य) शास्त्र से निश्चय करके। (इमाम्) इस ज्ञान

को (अत्यन्तम्) अत्यन्त । (शान्तिम्) सब दुःखों से रहित दशा को । (एति) प्राप्त होता है ।

(अर्थ) जिस मनुष्य ने नचिकेता को बतलाई विधि से तीन आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ में अग्निहोत्र किया है, जिसने माता पिता और आचार्य तीन शिक्षा देने-वालों के सत्सङ्ग से शिक्षा प्राप्त की हो, जिसने धर्म के तीन भागों अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में पढ़ा हो, गृहस्थाश्रम में और वानप्रस्थ में दान किया हो, वह तर जाता है अर्थात् जन्म और मौत से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । और जो वेद के बतानेवाले को जानता है, सब के स्पर्श के लायक़ है, जिसने इसको जान लिया, वह इस शास्त्र के अनुकूल कर्म से अत्यन्त शाँति को प्राप्त कर लेता है ?

प्रश्न—वह नचिकेता को बताई हुई तीन प्रकार की अग्नि कौन सी है ?

उत्तर—यहाँ पर यह आश्रम हैं—ब्रह्मचर्याश्रम में आहवनीय गृहस्थाश्रम में गार्हपत्य, तथा प्राजापत्य वानस्थाश्रम में अन्वा-हार्य नामवाली अग्नि का आशय तीन प्रकार की अग्नि से है । प्रत्येक आश्रम में उसी के अनुकूल अग्निहोत्र करना चाहिए ।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

(शब्दार्थ) (त्रिणाचिकेतः) नचिकेता को बताई हुई विधि के अनुसार तीन आश्रमों के लिये तीन बार अग्नि नियत की है । (त्रयम्) तीन कर्म किये हों । (एतद्) उक्त कथन का । (विदित्वा) जानकर । (यः) जो । (एवं) इस विधि पर । (विद्वान्) जाननेवाला । (चिनुते) संग्रह करता है, नियत करता है । (नाचिकेतम्) नाचिकेत नाम से प्रसिद्ध अग्नि

को। (सः) वह (मृत्यु प्रज्ञान) मौत की साँकल से। (पुरतः) जीव और शरीर के वियोग से पहले ही। (प्रणोद्य) शरीर को छोड़ कर मरने के पश्चात्। (शोकातिगः) शोक से छूटकर। (मोदते) सुख भोगता है। (स्वर्गलोके) स्वर्गलोक में अर्थात् दुःख से रहित जन्म या स्थान में

(अर्थ) जिसने तीन आश्रमों में अग्निहोत्र किया है, जिसने यज्ञ और दान के कर्म किये हैं, जिसने माता पिता और आचार्य से शिक्षा को प्राप्त करके उस परमात्मा को जान लिया है और जो विद्वान् इस प्रकार तीन आश्रमों में अग्निहोत्र के वास्ते तीन बार अग्नि को नियत करता है, वह अपने जीवन में और मौत के पश्चात् मौत के बंधनों से स्वतंत्र होकर, हर प्रकार के शोक से रहित होकर स्वर्ग लोक में सुख से जीवन व्यतीत करता है।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः ! स्वर्ग्यो ,
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास ,
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

(शब्दार्थ) (एषः) उक्त कथन जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। (अग्निः) जिस अग्निहोत्रादि धर्म को तूने पूछा था। (स्वर्ग्यः) जो स्वर्ग सुख के प्राप्त करने का कारण है। (यम्) जिसको। (अवृणीथा) माँगा था। (द्वितीयेन) दूसरे। (वरेण) वर से जो माँगा था। (एतम्) इस। (अग्निं) अग्निहोत्र की विद्या को। (तव एव) तेरे ही नाम से। (प्रवक्ष्यन्ति) कहेंगे (क्योंकि जिस नाम से आज किसी को विद्वान् मनुष्य कहते हैं, वही नाम उस वस्तु का नियत हो जाता है) जिस वस्तु का जो नाम विद्वानों ने नियत किया है। (जनासः) विद्वान् लोग उसी के अनुकूल कहते हैं। (तृतीयं)

तीसरा (वरम्) वर का। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (वृणीष्व) माँ।

(अर्थ) यमाचार्य ने नचिकेता से कहा—हे नचिकेता! यह तेरी अग्नि-विद्या है जिसको तूने स्वर्ग प्राप्त करने के वास्ते साधन समझ कर पूछा था। दूसरे वर के कारण से यह अग्नि तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। क्योंकि जिस वस्तु का जो नाम आरम्भ में रक्खा जाता है वही नाम उसका संसार में फैल जाता है। इस कारण इस अग्नि को सर्व साधारण लोग तेरे ही नाम से पुकारेंगे। अब तू तीसरा वर माँग ले। बहुत से लोग कहेंगे कि क्या यमराज के कहने से वह अग्निहोत्र की शिक्षा नचिकेता के नाम से कैसे हो सकती है। परन्तु जब यमाचार्य ने इसका नाम नचिकेता अर्थात् नचिकेता से सम्बंध-वाली रख दिया, अब जो उसे वर्णन करेगा। अब नचिकेता यमाचार्य से तीसरा वर माँगता है।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये,
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं,
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

(शब्दार्थ) (मनुष्ये) इस शरीर में रहनेवाले जीवात्मा और मनुष्य की वियुक्त दशा में। (प्रेते) मरने के पश्चात्। (या इयं विचिकित्सा) जो यह संदेह उत्पन्न हो रहा है। (अस्ति) जीवात्मा मौत के पश्चात् है। (इति) यह पक्ष। (एके) एक ओर किया जाता है। (न) नहीं। (अयम्) यह जीवात्मा। (अस्ति) है। (इति) यह। (एके) एक। (एतत्) यह एक वाले मानते हैं। (विद्याम्) इस ज्ञान को निश्चय पूर्वक। (अनुशिष्टः) मैं जान लूँ। (त्वया) तुम्हारे। (अहं) मैं। (वराणाम्) वरों में से यह वर। (एषः) तीसरा है।

(अर्थ) नचिकेता कहता है—हे गुरु महाराज ! इस जीवात्मा के सम्बन्ध में मौत के पश्चात् जो संदेह है, बहुत है। मनुष्य कहते हैं कि मौत के पश्चात् जीवात्मा नहीं रहता है अर्थात् जीव शरीर से पृथक् कोई पदार्थ है। दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि मौत के पश्चात् जीवात्मा नहीं रहता है अर्थात् शरीर से पृथक् जीवात्मा कोई पदार्थ नहीं। यह पक्ष कि शरीर से पृथक् जीवात्मा है या नहीं, इसको आप मुझे सिखलाएँ कि जिससे आप की शिक्षा से मैं इसको निश्चयात्मक होकर जान सकूं। तीन वरों में से मेरा यह तीसरा वर है। नचिकेता का यह वर तीन प्रश्नों को लिये है, या पवित्र जन्म है या नहीं जीवात्मा शरीर से पृथक् है जो मौत के पश्चात् भी रहता है; या शरीर का ही अंग है जो मौत के साथ ही जीव को भी समाप्ति हो जाती है। शरीर और आत्मा को पृथक् करनेवाला परमात्मा है या नहीं। इस प्रश्न में जो ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में प्रश्न हुआ, इस पर यमाचार्य कहते हैं।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा,
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व,
मा मोपरोत्सीरतिमा सृजैतम् ॥२१॥

(शब्दार्थ) (देवैः) बड़ा-बड़ी विद्या के प्रकाश करनेवाले विद्वानों ने। (अत्र) इस आत्मज्ञान अर्थात् ब्रह्म विद्या के सम्बन्ध में। (अपि) भी। (विचिकित्सितम्) इस पर संदेह करके विचार किया है कि क्या यह आत्मा है या नहीं। यदि है तो क्यों नहीं जाना जाता। यदि नहीं, तो वेदों, शास्त्रों में क्यों लिखा है। इस प्रकार अनेकों संदेह किये हैं। (पुरा) प्राचीन काल में। (नहि) निश्चय नहीं। (सुविज्ञेयम्) सरलता से जानने योग्य अथवा प्रत्येक के जानने योग्य। (अणुः)

अति सूक्ष्म जिसको मोटी बुद्धि से नहीं जान सकते। (एव) यह आत्मज्ञान। (धर्मः) धर्म। (अन्य वर) दूसरे वर को। (नचिकेतः) हे नचिकेता! (वृणीष्व) माँग ले। (मा) मुझको। (मा अपरोत्सीः) मत दबाओ, जिस प्रकार ऋणी को ऋण-दाता दबाता है। (एनम्) इस वर को। (अतिसृज) त्याग दे।

(अर्थ) नचिकेता की आत्म-विद्या के सम्बन्ध में प्रश्न सुनकर अधिकारी की पहचान के लिये यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! इस आत्म-विद्या के सम्बन्ध में प्राचीन काल में बड़े बड़े विद्वानों ने अनेकों शंकायें उत्पन्न की हैं। कोई कहता है कि आत्मा है। तो दूसरा कहता है, यदि है तो उसके होने का प्रमाण क्या है? क्योंकि जो वस्तु होती है उसकी स्थिति के वास्ते प्रमाण होता है। आत्मा के वास्ते प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं। और बिना प्रत्यक्ष के अनुमानादि भी हो नहीं सकते। एक और उसकी स्थिति जगत्-कर्ता होने से अनुमान की जाती है। दूसरे योगियों का मानसिक प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है, इसके सम्बन्ध में बहुत वाद हो चुका है। यह आत्म-विद्या बहुत ही सूक्ष्म है। इसको सरलता से कोई प्राप्त नहीं कर सकता और न प्रत्येक मनुष्य इसको जान सकता है। इस कारण हे नचिकेता! तू इस वर को छोड़कर दूसरा वर माँग ले और मुझे अधिक कष्ट मत दे। इस पर नचिकेता कहता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल,
त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो,
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

(शब्दार्थ) (देवैः) विद्वानों ने। (अत्र) इस ब्रह्म-विद्या

के सम्बन्ध में। (अपि) भी। (विचिकित्सितम्) विचार किया है, अर्थात् विद्वानों ने इस विषय को निर्णय करने में बहुत उद्योग किया। (किल त्वं च) और आपने भी विचार किया है। (मृत्यो) हे यमाचार्य। (यत्) जो। (न) नहीं। (सुविज्ञेयम्) अनायास जानने योग्य। (आत्थ) कहते हैं जिससे अनुमान होता है। (वक्ता) बतानेवाला। (त्वादृग्) तुम्हारे समान। (अन्यः) दूसरा। (न) नहीं। (लभ्यः) मिल सकता। (न अन्य) नहीं दूसरा। (वरः) वर। (तुल्यः) बराबर। (एतस्य कश्चित्) इसके कोई।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा—हे गुरु महाराज! आप यह कहते हैं कि इस विषय पर विद्वानों ने बहुत कुछ विचार किया है और आपने भी इसको सोचा है जिससे स्पष्ट विदित होता है कि यह विषय अति आवश्यकीय है। क्योंकि विद्वान मनुष्य किसी व्यर्थ बात पर विचार नहीं करते। वह जानते हैं कि कौन सा विषय विचार करने योग्य है और कौन सा नहीं। अतः जिस सिद्धान्त को उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचारा है वह सिद्धान्त प्रत्येक के जानने योग्य नहीं। साधारण मनुष्य की बुद्धि इसको समझ नहीं सकती। जब यह सब बातें आप कह रहे हैं तो मुझे अनुमान होता है कि इस विद्या को बताने वाला आपसे योग्य मिलना कठिन है। जब आपसे अधिक ब्रह्म-विद्या का जाननेवाला मिल ही नहीं सकता और यह भी अनुमान होगया कि इसके बराबर कोई दूसरा वर नहीं। भला इन दोनों बातों को जानकर किस प्रकार अन्य वर माँग लूँ या मुझे यह निश्चय हो कि ब्रह्म-विद्या उत्तम वस्तु नहीं तो मैं इसको छोड़ सकता हूँ अथवा यह निश्चय हो कि आप इसको दे नहीं सकते। परन्तु इन बातों का निश्चय होना कठिन है क्योंकि दुनिया में विद्वान् मनुष्य पदार्थों को तीन प्रकार के भेदों से प्रकट करते हैं। एक वह पदार्थ जो प्राप्त करने योग्य है अर्थात् जिसकी अभिलाषा होती है। अथवा जो कमी को

पूरा करने और दोष को दूर करने का कारण स्वीकार किये जाते हैं। दूसरी वह वस्तु जो नष्ट करने योग्य जो कमी और दोष को उत्पन्न करनेवाली है, जिससे घृणा होती है। तीसरी वह वस्तु जिससे त्रुटि और दोष दूर होते हैं न बढ़ते हैं, किंतु वह हमारे लिये लाभदायक व हानिकारक होने से पृथक् हैं, न हमको उनके प्राप्त करने की आवश्यकता है और न नष्ट करने की; उनकी हमें कोई परवाह नहीं होती है। केवल उदासीन ही रहते हैं।

प्रश्न—प्राप्त करने योग्य कौन सी वस्तु है जिससे दोष दूर होते हैं और त्रुटि पूरी होती है?

उत्तर—जीवात्मा में अल्पज्ञान का दोष और आनन्द की कमी है। अतएव सच्चिदानन्द परमात्मा की उपासना से यह त्रुटि और दोष दूर हो जाते हैं। बिना परमात्मा की उपासना के न तो सत्यज्ञान प्राप्त होता है और न आनन्द मिलता है।

प्रश्न—जब कि परमात्मा प्रत्येक जीव के भीतर हर समय व्यापक है, तो उसकी उपासना हर समय हो रही है। फिर इसकी क्या जरूरत है?

उत्तर—परमात्मा की उपासना देश काल के सम्बन्ध से अंतव्य नहीं, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध से है। जो परमात्मा को आनन्द और ज्ञान का भंडार समझ कर भरोसा रखता है वह ईश्वर का उपासक है। और जो प्रकृति का भरोसा रखता है वह प्रकृति का उपासक है।

प्रश्न—कमी और दोष को बढ़ानेवाली कौन सी वस्तु है जिससे घृणा होती है?

उत्तर—प्रकृति से बनी हुई वस्तु ज्ञान की कमी के दोष को बढ़ानेवाली और आनन्द की कमी पैदा करनेवाली है यदि प्रकृति उपासक सृष्टि न हो तो मनुष्य के भीतर शान्ति बनी रहती है। यदि आनन्द न हो तो प्रकृति की उपासना से अल्पज्ञान और अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाता है और आनन्द तो

मिलता ही नहीं किन्तु अशान्ति बढ़ जाती है। अतः प्रकृति की उपासना हानिकारक है जिसको दूर करना आवश्यक है।

प्रश्न—इस समय तो समस्त संसार यह कहता है कि बिना प्राकृतिक ज्ञान के धनादि प्राप्त किये सुख नहीं हो सकता। और तुम उसके विरुद्ध कहते हो।

उत्तर—यदि इस समय की प्रकृति उपासक क़ौमें शान्त और सुखी हैं तो उनका पक्ष ठीक है। यदि प्रकृति उपासक क़ौमें दुःख से युक्त हैं तो उनका पक्ष सरासर असत्य होने में क्या संदेह है। जहाँ तक पश्चिमी देशों के हालात का पता लगता है उनसे वह अधिक अशांत दृष्टिगत पड़ती हैं। कोई नृप दो चार कोस भी अकेला नहीं घूम सकता। जहाँ राजा भी अकेले न घूम सकें, उनको भी हर समय शत्रुओं का भय लगा हुआ हो, वह शांति का पक्ष हो अविद्या है।

प्रश्न—अशांति तो भारत में भी मौजूद है।

उत्तर—यह भी प्रकृति उपासना की शिक्षा है। भारत में जब तक धार्मिक शिक्षा थी, तब तक अशांति का नाम नहीं था। जब से यह शिक्षा चली है तब से यहाँ भी अशांति आगई। जो कुछ अशांति के कारण हैं, सब प्रकृति उपासक मनुष्य की संगति और शिक्षा से आए हैं।

प्रश्न—उदासीन वृत्ति पैदा करनेवाली जिससे न हानि हो न लाभ; कौन सी वस्तु है?

उत्तर—जीवात्मा के वास्ते दूसरे जीव न तो लाभदायक ही हैं न हानिकारक, उनसे विरक्त रहना ही उत्तम है।

प्रश्न—यदि पशु आदि जीव न हों तो मनुष्यों का जीवित रहना ही कठिन हो, आप उनको लाभ हानि से पृथक् करते हैं।

उत्तर—पशु आदि की आवश्यकता शरीर की सहायता के लिये है न कि जीवात्मा के वास्ते। इस कारण ब्रह्म-विद्या में विचार जीव को लेकर है।

नचिकेता ने कहा—हे आचार्य! जिस विद्या के सम्बन्ध में

विद्वानों ने परमात्मा का पक्ष किया है, उसका लाभदायक होना आवश्यकीय है, जिससे मैं उस वर को अपने हेतु माँगता हूँ। चूँकि आप इस बात को जानते हैं कि यह बहुत ही कठिनता से जानने योग्य है, जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आपने उन कठिनताओं को जाना है जो इस मार्ग में रोक पैदा करती हैं। अतः जब कि आप जैसा आचार्य जिनकी उपमा और नहीं मिल सकती, मुझको वर देने का प्रण कर चुका है, तो मैं दूसरा वर क्यों माँगू। नचिकेता की अधिक परीक्षा के लिये यमाचार्य कहते हैं।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व,
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व,
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

(शब्दार्थ) (शतायुषः) सौ वर्ष की आयुवाले। (पुत्र पौत्रान्) पुत्र और पौत्र अर्थात् बेटों के बेटों को। (वृणीष्व) माँग ले। (बहून्) बहुत से। (पशून) पशुओं का। (हस्ति हिरण्यमश्वान) हाथी, घोड़े सोने के साज वाले। (भूमेः) पृथिवी या कुल संसार की पृथिवी के। (महदायतनं) बहुत बड़े भवन। (वृणीष्व) माँग ले। (स्वयं) अपनी। (च) और। (जीव शरदं) जीना। (यावद) जितना तू। (इच्छसि) इच्छा करे।

(अर्थ) यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि अतिरिक्त ब्रह्म विद्या के तू यह माँग ले कि मेरे बेटे और पोते सौ सौ वर्षवाली आयु के हों और मेरे घर में बहुत से पशू गाय, बैल, भैंस और हाथी हों और घोड़े हों जिनका सम्पूर्ण साज सामान सोने का बना हुआ हो और भूमि जितनी चाहे माँग ले और बड़े-बड़े भवन, किला, गढ़, बँगला और कोठियाँ जितनी चाहे

माँगले और अपनी आयु की वृद्धि अर्थात् जितने वर्षों तक जीने की इच्छा हो जीवन सुख से व्यतीत कर सके यह माँगले। यमाचार्य के कहने से मालूम होता है कि वह उन इच्छाओं को बतलाया चाहते हैं जो ब्रह्म विद्या के मार्ग में रुकावट हैं। क्योंकि परीक्षा के स्थान पर वही प्रश्न किये जाते हैं जिनसे उनके पास होने में रुकावट समझी जाती है। संसार की वस्तुओं की आवश्यकता जितनी है वह भोग के अनुकूल परमात्मा बिना किसी इच्छा के देते हैं और इनकी इच्छा करना आत्मिक मार्ग में बहुत रुकावट डालना है। क्योंकि जिस मन में सरदी की इच्छा है उसमें उसी समय गर्मी की इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि यह दोनों इच्छाएँ आपस में विरोधी हैं अतः विरोध-संग्रह कठिन है। जिस मन में सांसारिक धन की इच्छा है उसमें परमात्मा की इच्छा नहीं हो सकती और जिस मन में परमात्मा की उपासना का ध्यान है, उसमें संसार के धन की इच्छा नहीं हो सकती। यह तो सम्भव है कि धनवान् भी हो, परन्तु यह सम्भव नहीं कि धन की इच्छा भी हो और ईश्वर की इच्छा भी हो। क्योंकि धनवत्ता के साथ ईश्वर की इच्छा का विरोध नहीं किंतु धन की इच्छा के साथ ईश्वर की इच्छा का विरोध है। ईश्वर के इच्छुक को भी पूर्व कर्म के अनुकूल धन प्राप्त होता है और धन की इच्छावाले को भी उतनी ही दौलत मिलती है जितनी उसके भोग में है। इस कारण ईश्वर की इच्छावाले को न उसके आने में प्रसन्नता होती है न जाने में दुःख होता है। परन्तु धन के इच्छुक को धन के आने में प्रसन्नता और जाने में दुःख होता है यही उनकी पहिचान है। जनक और रामचन्द्र धनवान् और राजे थे परन्तु उनके मन में धन की अभिलाषा नहीं थी अतः जब रामचन्द्र का यह कहा गया कि कल तुमको राज मिलेगा तो वह प्रसन्न नहीं हुए. जब कहा गया कि बन को जाओ तो वह अप्रसन्न नहीं हुए। क्योंकि वह इस बात को जानते थे कि होना वही है जो भोग है, फिर दुःख सुख किस

बात का ? जनक की कथा प्रसिद्ध है कि यदि उनके शरीर में इत्र होती तो वह प्रसन्न नहीं होते थे।

प्रश्न—क्या कारण है कि जनक को शरीर के जलने में कष्ट नहीं होता था। हम तो ऐसा होना सम्भव नहीं समझते।

उत्तर—मूर्खों के विचार में यह बात असम्भव है क्योंकि वह शरीर और जीव के सम्बन्ध से अज्ञात हैं। कोई तो यहाँ तक बढ़ गये हैं कि कार्यों में शरीर को जीव का साझी समझते हैं और दंड भोगने के समय शरीर के साथ होने को आवश्यकीय ख़्याल करते हैं और इसी युक्ति के भरोसा पर पुनर्जन्म से इनकार करते हैं। परन्तु जो लोग जानते हैं कि जीव के वास्ते शरीर किराया गाड़ी है जिसकी उस समय तक आवश्यकता है जब तक मार्ग पर नहीं पहुँचते। या जो यह समझते कि शरीर एक कारागार है जो कर्मों के कारण से मिलता है, वह इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करते, क्योंकि किराये की गाड़ी नियत मार्ग पर छोड़नी पड़ती है। और आत्मिक नियत मार्ग यहीं तक है कि हम प्रकृति के सम्बन्ध से पृथक् होकर और शरीर के अहंकार को त्याग करके परमात्मा की उपासना में लग जावें। इसलिये परमात्मा के ज्ञान में लग जाने की अवस्था में फिर शरीर की आवश्यकता ही क्या है, जिसके जाने से भय हो।

एततत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं,
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि,
कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥२४॥

(शब्दार्थ) (एतत्तुल्यं) उपर्युक्त भोगानुकूल। (मन्यसे) जो तेरी इच्छा हो। (वरम्) वर को। (वृणीष्व) माँगले। (वित्तं) धन को। (चिरजीविकाम्) नियत होने वाली आयु।

(महाभूमौ) पृथिवी के राजा होने को। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (एधि) प्राप्त कर। (कामानाम्) कामनाओं से। (त्वा) तुझको। (कामभाजम्) इच्छानुकूल प्राप्त होनेवाली अवस्था को। (करोमि) करता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण संसार के ऐश्वर्य को तुझको देता हूँ।

(अर्थ) आचार्य ने कहा—हे नचिकेता! इसके बराबर सांसारिक सुख के प्राप्त होने योग्य जो कुछ तू चाहता है माँग ले, जिस क़दर तुझे धन की इच्छा हो माँग। मैं तुझको दे सकता हूँ। यदि तू नियत आय चाहे अर्थात् मासिक या वार्षिक या जिस क़दर तुझको आवश्यकता हो माँग ले। यदि तू भूमि का बड़ा भाग राज्य का चाहे तो मिल सकता है। हे नाचिकेता! जो तेरी अभिलाषा हो वह तू बता दे, मैं तुझको इस योग्य कर दूंगा कि जो तेरी इच्छा हो वही पूरी होजावे। तू ब्रह्म-विद्या के विचार को त्याग कर, तू सांसारिक सुख माँग। तेरी कोई आवश्यकता न होगी जो पूर्ण न हो। इतना लाभ एक युवा ब्रह्मचारी को अपने मार्ग से पतित करने के वास्ते पर्याप्त से अधिक है। परन्तु यमाचार्य नचिकेता का दृढ़ विश्वास देख कर और भी लोभ देता है।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके,
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमाः रामाः सरथाः सतूर्या,
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व,
नचिकेतो! मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

(शब्दार्थ) (ये ये कामा) जो जो कामनाएँ। (दुर्लभः) अत्यन्त दुर्लभ हैं। (मर्त्यलोके) इस संसार में जिसमें मरने वाले मनुष्य रहते हैं। (सर्वान्) सब को। (कामान्) जो

तुमको कामनाएँ हों। (इन्दतः) अपने लाभार्थ जानकर इच्छानुकूल। (प्रार्थयस्व) माँगले। (इमाः) यह। (रामाः) स्त्रियाँ। (सरथाः) रथारूढ़। (सतूर्याः) जिनके साथ गाने बजाने के सामान मौजूद हों, बाजे बज रहे हैं। (न) नहीं। (हि) निश्चय करके। (ईदृशाः) इस प्रकार की। (लम्भनीयाः) प्राप्त हो सकती हैं। (मनुष्यैः) मनुष्यों को। (आभिः) इन पतिव्रताओं के साथ। (मत्प्रत्ताभि) जो मेरी दी हुई हैं। (परिचारयस्व) सुख को भोग। (मरणं) मौत के सम्बन्ध में आत्म-ज्ञान। (मा) मत। (अनुप्राक्षी) पूछ।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता! जो-जो पदार्थ इस भूमि पर हैं अत्यन्त ही अलभ्य हैं, जिनके सम्पूर्ण मनुष्य अभिलाषी हैं। उन सब पदार्थों को निज इच्छानुकूल माँग ले। यह मत विचार कर, कि मेरे पास कोई वस्तु नहीं। यह स्त्रियाँ जो अत्यन्त सुन्दर और रथों पर आरूढ़ हैं, जिनके साथ बाजे और गाने की समस्त सामिग्री मौजूद है, जो समान मनुष्यों को किसी प्रकार भी नहीं प्राप्त हो सकतीं। सम्पूर्ण मनुष्य जिनकी अभिलाषा करते हैं। और वह उनको नहीं मिलतीं। और तू इन मेरी दी हुई पतिव्रता और सुन्दर स्त्रियों के साथ ससार के सुखों को भोग। परन्तु मौत के पश्चात् आत्मा की जो दशा होती है उसके सम्बन्ध में मत प्रश्न कर। इसके उत्तर में नचिकेता जिसको ब्रह्मचर्य आश्रम के संस्कारों ने बलवान् बना दिया था, जिसके मन में इस प्रकार की इच्छाओं का उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन था, जो संसार के सुखों की वास्तविक दशा को भले प्रकार से जानता था और जिसको विदित था कि मुक्ति-मार्ग में यही रुकावटें हैं। उत्तर देता है।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्,
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव ,
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

(शब्दार्थ) (श्वोभावाः) अनित्य हैं । (मर्त्यस्य) मृत्यु धर्म वाले मनुष्यों के । (यत्) जो । (अन्तक) दुष्टों को दंडवत् कर पापों का अन्त करनेवाला । (एतत्) यह सर्व विषय । (सर्वेन्द्रियाणां) सम्पूर्ण इन्द्रियों के । (जरयन्ति) नष्ट कर देते हैं । (तेजः) तेज अर्थात् शक्ति को । (अपि) और । (सर्वं) सब । (जीवितम्) जीवन । (अल्पमेव) थोड़ा ही है । (तव एव) आप की ही रहीं । (वाहाः) रथादि सवारियों सहित स्त्रियाँ । (तव) आपका ही हो । (नृत्यगीते) नृत्य और गाना ।

(अथ) यमराज की बात को सुनकर नचिकेता ने उत्तर दिया कि महाराज, जितने संसार के विषय हैं सब ठहरनेवाले नहीं और मरनेवाले मनुष्य के तेज यमराज के नियम के अनुकूल यह विषय नाश करते रहते हैं, सर्व इन्द्रियाँ जिससे कमज़ोर हो जाती हैं । यदि आप कहें कि यह सम्पूर्ण जीवन भर, तो यह जीवन बहुत ही थोड़ा है । यदि इसको बढ़ा भी लिया जावे और यह जब तक सृष्टि रहे तब तक भी बना रहे तो भी मुक्ति के दस हज़ार भाग में होते बहुत ही थोड़ा रहेगा । इस कारण रथादि सवारियों में बैठनेवाली स्त्रियाँ आपको ही फलीभूत हों, वह आपकी ही बनी रहें । मुझे इनकी नितान्त आवश्यकता नहीं और न मैं नाचने और गाने को उत्तम समझता हूँ । इसको आप अपने पास ही रक्खें । मुझे तो अतिरिक्त ब्रह्म-विद्या अर्थात् मौत के पश्चात् जो आत्मा की गति होती है उसके जानने के और किसी वस्तु की ज़रूरत नहीं । नचिकेता ने कहा ।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो,
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं,
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (वित्तेन) धन से। (तर्पणीयः) तृप्त होता। (मनुष्यः) मनुष्य। (लप्स्यामहे) प्राप्त हो जावेंगे। (वित्तम्) धन को आपकी कृपा से। (अद्राक्ष्म) दर्शन करके। (चेत्) यदि। (त्वा) आपकी दया होगी। (जीविष्यामः) जीवित रहूँगा। (यावत्) जब तक। (ईशिष्यसि) परमात्मा की इच्छा होगी अर्थात् जितनी आयु परमात्मा ने दी है जीवित रहूँगा। (त्वम्) आप से। (वरस्तु) वही एक वर। (वरणीय) प्राप्त करना है। (स एव) वही।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा महाराजा, कोई मनुष्य चाहे कितना ही धन प्राप्त कर ले कभी उस धन से तृप्त नहीं होता अर्थात् धन की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। जिस प्रकार भोजनादि से पेट भर जाता है फिर खाने की इच्छा बनी रहती है, इसी प्रकार धन से इच्छा पूर्ण नहीं होती। जितना धन मिलता जावे उतनी इच्छा बढ़ती जाती है। सौ वाला हज़ार में सुख समझकर इच्छा करता है तो सहस्राधीश लक्ष की इच्छा रखता है और लक्षपति करोड़पति होने की इच्छा रखता है। चूंकि धन मानुषी आवश्यकता नहीं किंतु तृष्णा है, इस कारण इसकी कभी समाप्ति नहीं होती। यदि मनुष्य धन को देखकर प्राप्त कर लेता है तो सुख नहीं होता। इसलिये जितना धन भोग में है वही मिल जावेगा और जितना जीवन कर्मानुकूल परमात्मा ने दिया है उस समय तक मैं जीवित रहूँगा। मुझे इससे अधिक जीने की इच्छा नहीं। अब आप न तो मुझे धन दें क्योंकि उससे तृष्णा बढ़कर दुख होता है, सुख नहीं हो सकता। और न आयु दें, क्योंकि जितना जीवन परमात्मा ने दिया है मेरे लिये वही पर्याप्त है। आपसे तो मुझे केवल वही वर अर्थात् मौत के पश्चात् आत्मा की क्या गति होती है जीव और ब्रह्म

का ज्ञान जिसका नाम ब्रह्म विद्या है, वही लेना है। अतः आप मुझको उसे दीजिये।

अजीर्यतामृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा,
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

(शब्दार्थ) (अजीर्यताम्) जिसमें व्यय और हानि नहीं होती। (अमृतानां) जो मौत और नाश से रहित है अर्थात् न घटती और बढ़ती है। (उपेत्य) प्राप्त करके। (जीर्यन्) शरीरादि की बुढ़ापे को प्राप्त करके। (मर्त्यः) मौत जिसका धर्म है। (क्वधःस्थः) जो पृथ्वी पर पंचगति में कायम होता है। (प्रजानन) सत् असत् के ज्ञानवाला मनुष्य। (अभिध्यायन) वास्तव में दुख का कारण जाननेवाला। (वर्णरतिप्रमोदान्) सुन्दर स्त्रियों के सम्बन्ध से प्राप्त होनेवाले सुखों को। (अतिदीर्घे) बहु काल तक रहनेवाले। (जीविते) जीवन में। (कः) कौन। (रमेत) प्रसन्न होवे।

(अथ) नचिकेता ने कहा—हे महाराज! त्रुटि और नाश से रहित और पदार्थों को जिनके बिगड़ने का कभी संदेह ही न हो, प्राप्त करने और नाश होनेवाली भूमि पर मोक्ष सुख के सामने बहुत ही बुरी दशा में नियत है। ज्ञान युक्त मनुष्य जिसको यह सांसारिक सुख विचारने से दुःख रूप ही मालूम होते हैं, जो यह जानता है कि इनसे हानि के कोई लाभ नहीं, वह इनमें किस प्रकार फँस सकता है। जिनमें थोड़ी देर तक रहना भी बुद्धिमान् को स्वीकार न हो, तो बहुत जीवन केवल विषयों के भोगने के वास्ते माँगना किस बुद्धिमान् को स्वीकार होगा।

प्रश्न—क्या विषय दुःख रूप है ? सम्पूर्ण संसार के मनुष्य तो इन्हें सुख मानते हैं।

उत्तर—जो आदमी दुःख और सुख की वास्तविक दशा से अज्ञात हैं वही विषयों को सुख मानते हैं और जो मनुष्य इनकी वास्तविक दशा से जानकार हैं वह इनको सुख मानने के बजाय पूर्ण दुःख मानते हैं क्योंकि यह परमानन्द की प्राप्ति के मार्ग में बहुत बड़ी रुकावटें हैं।

प्रश्न—तुलसीदास जैसे भक्त ने भी कहा है कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ जो सोने और स्त्री की इच्छा न रखता हो।

उत्तर—तुलसीदासजी ने आप को यह ऐसा नहीं बताया किन्तु यह दिखलाया है कि यह दो चीजें ऐसी बलवान् हैं कि इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी धोखा खा जाते हैं। अतएव यमाचार्य ने नचिकेता की परीक्षा के वास्ते सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ सन्मुख रक्खे, परन्तु नचिकेता बुद्धिमान् था। वह इन वस्तुओं के लोभ में फंसकर अपने उद्देश्य से नहीं गिरा। अब नचिकेता कहता है।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्तिमृत्यो,
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो,
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

(शब्दार्थ) (यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान में। (इदम्) यह प्रश्न कि वह है या नहीं। (विचिकित्सन्ति) शंका की जाती है कि वह है तो कहाँ है, क्यों है। (मृत्यो) हे यमाचार्य। (यत्) जो। (साम्पराये) मोक्ष की गति के सम्बन्ध में विचार है कि मोक्ष में जीव के साथ कौन से पदार्थ रहते हैं। (महति) महा शंका है। (ब्रूहि) कहो। (नः) मुझको। (तत्) उसके

उत्तर को। (यः) जो। (अयम्) आत्म-विषय का। (वरः) वर। (गूढम्) गूढ़। (अनुप्रविष्टः) आत्मज्ञान के अनुकूल है अर्थात् जिसके जानने की आत्मा को ज़रूरत है। (न) नहीं। (अयम्) दूसरा। (तस्मात्) उससे पृथक्। (नचिकेता) नचिकेता। (वृणीते) माँगता है।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा—हे यमाचार्य ! जिसमें इस प्रकार के शंका समाधान होते हैं कि परमात्मा है या नहीं, है तो कहाँ हैं, किस प्रमाण से जाना जाता है। नहीं है, तो क्यों सम्पूर्ण संसार उसको मानता है। यदि है, तो वह कैसा है, मिला हुआ है अथवा पृथक् है, घिरा हुआ है अथवा खाली है, कर्ता है अथवा कर्तृत्व शून्य है, एक देशी है या सर्व व्यापक।

अतिरिक्त इसके जो मुक्ति के सम्बन्ध में बहुत बड़ी-बड़ी शंकाएँ हैं, कोई कहता है मुक्ति होती है, कोई कहता है नहीं होती, कोई कहता है मुक्ति नित्य है, कोई कहता है अनित्य है। कोई कहता है कि मुक्ति में सूक्ष्म शरीर रहता है, कोई कहता है नहीं रहता। आप इन सब के उत्तर को मुझे उपदेश करें। जो यह वर अत्यन्त कठिन है जिसमें बुद्धि का प्रवेश करना महा दुस्तर है, आप इसका विचार पूर्वक प्रबन्ध करें कि मुझे यह शंका न रहे। इससे पृथक् कोई वर अन्य नचिकेता नहीं माँग सकता। यद्यपि यह अन्तिम मार्ग का प्रश्न है, परन्तु मेरा वर भी अन्तिम यही है। यदि इस समय अन्य वर माँगलूँ तो इसको किससे मालूम करूँ। इस कारण नचिकेता अन्य वर नहीं माँग सकता, इसी को समझाइये।

इति प्रथमा वल्ली।

अथ द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे
नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु,
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते १।२०॥

(शब्दार्थ) (अन्यत्) अन्य है। (श्रेयः) मोक्ष के प्राप्त करने का साधन जो कल्याणकारी कर्म है। (अन्यत्) उससे पृथक् अन्य है। (उतप्रेयः) जो अत्यन्त प्रिय मालूम होता है अर्थात् स्त्री धनादि सांसारिक सुखों का कारण। (उभे) यह दोनों कर्म। (नानार्थे) नाना प्रकार के फलोंवाले कर्म। (पुरुषम्) जीवात्मा को। (सिनीतः) इच्छा की डोर में बाँधते हैं। (तयाः) उनमें से। (श्रेयः आददानस्य) मोक्ष के साधन करने से। (साधु) मोक्ष प्राप्त होता है। (यः उ) और जो। (प्रेयः) प्रेय को स्वीकार करता है। (अर्थात्) बहुत सुख से। (हीयते) खाली रह जाता है।

(अर्थ) जगत् में दो प्रकार के कर्म हैं। एक वह जिनके आरम्भ में कोई कष्ट मालूम नहीं होता, किंतु बहुत ही मनोहर मालूम होते हैं। परिणाम जिसका ठीक नहीं इसको प्रेयमार्ग अर्थात् सांसारिक सुखों का मार्ग कहा जाता है, जिस पर आज कल पश्चिमी जगत् चल रहा है।

दूसरा वह मार्ग जिसके आरम्भ में और कोई सुख नहीं मिलता किन्तु विशेष दुःख भोगना पड़ता है, परन्तु अन्त में महासुख प्राप्त होता है जिसको मोक्ष कहते हैं। इसी का नाम श्रेय मार्ग है। जिस पर चलनेवाले श्रेष्ठ कहलाते

हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों की इच्छा जीवात्मा को वासना की डोर में बाँध लेती है।

इनमें से जो श्रेय मार्ग है उसका साधन करता है वह तो अपने कार्य में सफल होता है अर्थात् दुःखों से छूटकर नित्य अर्थात् महाकल्प तक रहनेवाले सुख को प्राप्त करता है। और जो प्रेयमार्ग को स्वीकार करता है वह इस मार्ग में असफल रहता है। जिस प्रकार जगत् में बोना और खाना दो प्रकार के कर्म हैं। जिस प्रकार गिरना और चढ़ना दो प्रकार की गति हैं। अब जो गिरता है उसको आरम्भ में कोई कष्ट नहीं मालूम होता परन्तु जिस समय गिरने के स्थान भूमि पर पहुँच जाता है तब कठिन चोट आती है और किसी किसी समय तो मृत्यु तक हो जाती है।

दूसरे जो चढ़ता है उसको आरम्भ में कष्ट होता है, क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का सामना करना पड़ता है, बहुत हो बल लगता है जिससे थकावट पैदा होती है, परन्तु नियत मार्ग पर पहुँचकर बहुत ही आराम मिलता है। खानेवाला उपस्थित को नष्ट करता है और बोनेवाला उसके सैकड़ों गुणा अधिक बना लेता है। एक का आरम्भ अच्छा और अन्त बुरा है, दूसरे का आरम्भ वैसा बुरा नहीं मालूम होता परन्तु परिणाम बहुत ही शुभ है। इन दोनों मार्गों में अपने साहस और पुरुषार्थानुकूल चलते हैं। जो आत्मिक बलहीन मनुष्य हैं वह प्रथम सुख को पसंद करते हैं जिससे वह सुख के मार्ग को प्राप्त करने से गिर जाते हैं। और जो अन्तिम हैं और जिनका आत्मिक बल बलवान् है वह आरम्भ के कष्टों की चिन्ता न करके उस मार्ग पर चलते हैं जिसका परिणाम बहुत उत्तम होता है। जिसमें बहुत ही सुख प्राप्त होता है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२।२१॥

(शब्दार्थ) (श्रेयश्च) कल्याण और । (प्रेयश्च) जगत् सुख। (मनुष्यम्) विचार करने योग्य मनुष्य को। (एतः) प्राप्त होते अर्थात् जगत् में इनसे सम्बन्ध करना पड़ता है। (तो) इनमें से। (संपरीत्य) इसको अधिक ध्यान की दृष्टि से अन्वेषण करके। (विविनक्ति) इनकी हालतों की तुलना की जाती है जिसमें। (धीरः) बुद्धिमान् मनुष्य। (श्रेयः) शुभ मार्ग। (हि) निश्चय करके। (धारः) विद्वान् धीर पुरुष। (प्रेयसः) मनोहर से अन्त में सुख देने वाले मार्ग को। (अभिवृणीते) स्वीकार करता है। (प्रेयः) सांसारिक मार्ग को। (मन्दः) कम बुद्धि मनुष्य। योगक्षमाद्) निर्धनादि के भय से बचने और सांसारिक सुख का कारण समझ कर। (वृणीते) स्वीकार करता है।

(अर्थ) उपर्युक्त दो प्रकार के मार्गों से मनुष्यों का सम्बन्ध होता है। इनमें से जो बुद्धिमान मनुष्य हैं जिनको सत्यासत्य का ज्ञान है, जो गूढ़ विचार युक्त, निरालसी, पुरुषार्थी और परिश्रमी हैं और जो दूरदर्शी हैं वह तो परिमार्ग को (जिसमें यद्यपि इस समय सुख है परन्तु भविष्य में सुख के स्थान में दुःख की आशा है) छोड़कर श्रेय मार्ग को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो लोग कम बुद्धि और बुद्धिहीन हैं, जिनको इतना ज्ञान और साहस नहीं कि वह धैर्य से इस मार्ग पर चल सकें जिसका फल देर में मिलता है, वह बाह्य कष्टों से बचने के विचार और शारीरिक सुख का कारण जानकर सांसारिक सुख अर्थात् धन दौलत और राज पाट और स्वराज्य की इच्छा में जा गिरते हैं।

प्रश्न—क्या धन दौलत, स्वराज्य की इच्छा करना मूर्खों, आत्मिक बलहीनों का काम है? हम तो बड़े-बड़े योग्य मनुष्यों को इसमें लिप्त पाते हैं, जिनकी विद्या की संसार में धूम है।

उत्तर—निस्सन्देह जो लोग अपनी सत्ता से अनभिज्ञ हैं जिनको मैं कौन हूँ और मेरा क्या है, इस बात का भी सत्य-ज्ञान नहीं। जो यह भी नहीं जानते कि मेरे लिये लाभदायक क्या है, हानिकारक क्या है। उनको कोई चाहे कितना ही महायोग्य कहे, परन्तु वास्तव में वह अज्ञानी हैं। क्योंकि सांसारिक धन दौलत और स्वराज्य शरीर के लिये लाभ-दायक हैं न कि आत्मा के लिये? इनके सम्बन्ध से आत्मा को हानि पहुँचती है। अतः इनको बुद्धिमान् और योग्य कहना ऐसा ही है जैसा कि नाई का नाम * राजा रख दिया है।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामा,
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो,
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३।३२ ॥

(शब्दार्थ) (स त्वं) वह तूने मेरे बहुत लोभ दिखाने पर भी। (प्रियान्) प्रिय बेटे और पोतों को। (प्रियरूपां) सुन्दर रूपयुक्त स्त्रियों को। (च) और। (कामान्) वासनाओं को। (अभिध्यायन्) सब प्रकार के दुःख रूप विचार करके। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (अत्यस्राक्षीः) त्याग कर दिया है। (न) नहीं। (एताम्) इस। (सृङ्काम्) माला को। (वित्तमयीम्) भोगने योग्य धन से युक्त है। (न) नहीं। (अवाप्तः) प्राप्त किया है। (यस्याम्) जिसमें। (मज्जन्ति) लिप्त हो जाते हैं। (बहवः) बहुत से। (मनुष्याः) मनुष्य।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! मैंने तुमको संतान अर्थात् बेटे पोतों का लोभ दिया और प्रिय आकृति-वाली सुन्दर स्त्रियों का लोभ दिया और समस्त जगत् के

* पञ्जाब में नाई को राजा कह कर पुकारते हैं।

सुखों का प्रलोभन दिया। परन्तु तूने इनको दुःख रूप विचार करके स्वीकार नहीं किया और मैंने तुझे इस सांसारिक धन के क्रम का जिसमें प्रायः मनुष्य लिप्त हैं, उसका भी लोभ दिया। परन्तु इनमें से तूने किसी वस्तु को प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। और भी जितनी एषणा अर्थात् राज्य और प्रभुत्व की इच्छा है उसका लोभ दिया। परन्तु तूने उसे भी स्वीकार नहीं किया। सारांश यह कि जितनी बाधाएँ आत्मज्ञान के मार्ग में हैं उन सब को पेश किया। परन्तु तू किसी बाधा से नहीं रुका और न किसी वासना में लिप्त हुआ, अतः तेरी पूर्ण बुद्धि प्रशंसा योग्य है।

दूरमेते विपरीते विषूची,
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये,
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः॥४।३३॥

(शब्दार्थ) (दूरम्) दूर हैं। (एते) यह। (विपरीते) एक दूसरे के विरुद्ध। (विषूची) दो विपरीत वस्तुओं को प्रकट करनेवाली। (अविद्या) प्रेय-मार्ग। जिसका आरम्भ सुखमय और परिणाम निकृष्ट। (या च) और जो। (विद्या) श्रेय मार्ग जिसका आरम्भ शुष्क परिणाम और अन्ततःकल्याणकारक। (ज्ञाता) मालूम किया है। (अस्मिन्) यह। (विद्याभीप्सिनम्) श्रेय मार्ग को चाहने वाला। (नचिकेतसं) नचिकेता को। (मन्ये) जाननेवाला हूँ। (न) नहीं। (त्वा) तुझको। (कामाः) वासनाएँ या लाभदायक पदार्थ। (बहवः) बहुत सी। (अलोलुपन्तः) अपने जाल में न फँसाते।

(अर्थ) हे नचिकेता! यह मैंने भली प्रकार जान लिया है कि यह विपरीत गुण अर्थात् अविद्या और विद्या इन दोनों में से जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। दूसरी अविद्या को छोड़कर

विद्या (अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही जानना रूप जो सत्यज्ञान है) तू उसी को जानता है। हे नचिकेता ! तुझको संसार के धनादि पदार्थ तथा विषय-भोग अपने जाल में फँसा नहीं सकते। वास्तव में तू अविद्या की शक्ति से दूर निकल गया है, अब तू अविद्या में फँस नहीं सकता। क्योंकि तूने इनका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। और जिसको ज्ञान हो जाता है वह उत्तम को छोड़कर अनुत्तम को प्राप्त नहीं कर सकता।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डित मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा,
अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥५।३४॥

(शब्दार्थ) (अविद्यायाम्) अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान। प्रेयमार्ग (अन्तरे) उसके अन्दर। (वर्त्तमानाः) लिप्त होने की दशा में। (स्वयम्) अपने को। (धीराः) ज्ञानवाला। (पंडितम् मन्यमानाः) सत् असत् का विचार करनेवाला, मानते हुए। (दन्द्रम्यमाणाः) कुटिल मार्ग पर अर्थात् धोके से काम लेते हुए। (परियन्ति) नीच गति को प्राप्त होते हैं। (अन्धेन) अन्ध के। (एव) ही। (नीयमानाः) पीछे लगे हुए। (यथा) जैसे। (अन्धाः) अन्धे।

(अर्थ) अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान के प्राप्त करने में लगे हुए अपने आपको धैर्यवान् और ज्ञानी कहनेवाले नीच गति को पहुँच जाते हैं। यथा किसी अन्धे के पीछे लगकर अन्धा कुवें में जा गिरता है। क्या ही उपदेश है कि जो प्रेयमार्ग अर्थात् सांसारिक विषयों में फँसे हुए अपनी आत्मिक दशा को बिगाड़ रहे हैं अर्थात् किसी समय भी इन बातों को नहीं विचारते कि मैं क्या हूँ, मेरे को क्या लाभदायक है और हानि-कारक है। किन्तु ऐसा विचारनेवालों को अज्ञ और मूर्ख मनुष्य कहकर इनके ज्ञान को जो सत्य और सुख का कारण है

तमोमय कहकर अर्थात् भ्रम बताकर अपने मिथ्या ज्ञान को सत्य बताते हैं उनकी वही अवस्था है जैसे एक अन्धे के पीछे लगकर दूसरा अन्धा कुवें में जा गिरता है। ऐसे सौन्दर्य प्रकृति पूजकों का अनुसरण करते हुए मनुष्य बहुत ही नीच गति को पहुँच गये हैं। जिनको अपनी सत्ता का तो ज्ञान नहीं परन्तु प्रतिज्ञा संसार के विज्ञान जानने को करते हैं। यह लोग स्वयम् भी कष्ट पाते हैं और अपने अनुयायी सहस्रों को वैदिक धर्म के स्थान में विषयों में फँसाकर पाप कराते हैं। क्योंकि संसार की जितनी ऐहिक प्रत्यक्ष सुखद वस्तु हैं, इन सब का संबन्ध शरीर से है, जो पैदा हुआ वह नाश होने वाला है। अतः जो शरीर सहस्रों प्रकार का परिश्रम करने पर जीवित नहीं रहता तथा जो आत्मा कभी नहीं मरती। ता आत्मा को छोड़कर शरीर का दास बनना मूर्खता नहीं तो क्या है? ऐसी कोई सांसारिक वस्तु नहीं जो आत्मा के लिये लाभदायक हो। नित्य आत्मा के लिये अनित्य वैषयिक पदार्थ किस प्रकार लाभदायक हो सकते हैं। नित्य के वास्ते अनित्य किसी दशा में लाभदायक नहीं हो सकता। आत्मा के वास्ते विद्या और तप दो ही कल्याणकारक वस्तुएँ हैं।

विद्या, परमात्मा का पवित्र सत्ता से कभी विकार को नहीं प्राप्त होती। अर्थात् सर्वदा एक सी रहती है। कोई परिमार्ग का मनुष्य उस विद्या को नहीं जान सकता। जिससे श्रेयमार्ग की ओर पहुँचता है। श्रेयमार्ग पर वही मनुष्य जाते हैं और अविद्या की जंजीरों को काट कर विद्या के अमृत का स्वाद लेते हैं। जिनको चारों ओर अमृत ही अमृत मालूम होता है। वह किसी एक ओर बँधे हुए नहीं होते कि संसार के उपकार को ही अपना उद्देश जानते हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति

मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ । ३५ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं । (साम्परायः) मुक्ति के साधन । (प्रतिभाति) मन में स्थिर होते अर्थात् इनमें मन नहीं लगता । (बालम्) अज्ञानी मनुष्यों की । (प्रमाद्यन्तम्) मुक्ति से निश्चिन्त होते हैं । (वित्तमोहेन) जिनकी विद्या सांसारिक पदार्थों के प्रेम में लिप्त होने के कारण । (मूढम) नितान्त अन्धकार मय हो गया है । (अयम् लोकः) यह जो प्रत्यक्ष दृष्टि आ रहा है यही संसार या शरीर है अर्थात् यह जो सांसारिक विषय हैं यही हैं । (नास्ति) नहीं है । (परः) अब दूसरा जन्म या परमार्थ । (इति) यह । (मानी) माननेवाले । (पुनः पुनः) बार बार । (वशम्) वश में आते हैं । (आपद्यते) प्राप्त होते हैं । (मे) मेरे अर्थात् मेरे नामावाली मौत के ।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! जो अज्ञानी पुरुष जिनको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं । जो यह नहीं जानते कि हम क्या हैं । इनको धन का स्नेह अन्धा होने के कारण मुक्ति के जो साधन हैं वह मन में स्थिर नहीं होते । यद्यपि वह अन्य दूसरों को मरता हुआ देखते हैं, अमीरों के धन को नाश होता हुआ देखते हैं । राजाओं की संतान को मरता हुआ और राजाओं को कष्ट और आपत्ति में लिप्त देखते हैं । बड़े बड़े वीरों का हमारे से निर्बल होता हुआ देखते हैं । इन सब बातों को देखने और बुद्धि पर परदा पड़ने के कारण उनको मुक्ति के साधनों की ओर प्रेम नहीं होता । क्योंकि जिस वस्तु का निश्चय पूर्वक ज्ञान होता है उसका कर्म संसार में देखा जा सकता है । परन्तु जहाँ पर निश्चयात्मक ज्ञान न हो, वहाँ कर्म नहीं हो सकता । अतः निश्चयात्मक ज्ञान मेधावी बुद्धि से होता है । जैसे रूप का ज्ञान आँख से होता है । जब तक आँख ठीक होती है तब तक तो उसको सत्य ज्ञान होता है । जहाँ आँख में कमल वायु की बीमारी का दोष आया तो पदार्थों के

असली रूप के देखने के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को वह पीला ही पीला देखते हैं। ऐसे ही जिसको मेधा बुद्धि होती है उस को तो यह सांसारिक पदार्थ आत्मा के वास्ते नियत मार्ग में बाधा मालूम होते हैं। जिससे वह वैराग्य प्राप्त करता है। क्योंकि संसार के सर्व पदार्थ शरीर के वास्ते हैं कोई भी सांसारिक वस्तु ऐसी नहीं जिसका सम्बन्ध शरीर को छोड़ कर आत्मा से हो। शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है वह सब अपवित्र है। आँख से कीचड़ निकलता है जो अपवित्र है। कान से मैल निकलता है वह भी नापाक है। नाक से जो निकलता है वह भी मैला ही है। मुँह से थूक निकलता है वह अपवित्र है। मल-मूत्र भी अत्यन्त अपवित्र है। स्वेद से भी गन्ध आती है। सारांश शरीर में से जो कुछ निकलता है वह सब का सब दुर्गंधयुक्त होता है उसमें से कोई भी पवित्र नहीं। परन्तु जब तक शरीर के भीतर होता है तब तक उससे गंध नहीं आती क्योंकि भीतर शुद्ध करनेवाली शक्ति आत्मा उपस्थित है। जब तक आत्मा है तब तक तो शरीर अपवित्र नहीं, परन्तु जहाँ आत्मा शरीर से पृथक् हुआ तो यह सम्पूर्ण शरीर ऐसा अशुद्ध होता है कि जिस मकान में एक दिवस पड़ा रहे तो आस पास के मकानों की भी वायु को बिगाड़ देता है। कई दिवस तक होम करके वायु को शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। ब्राह्मण पातक समझकर उस मकान में बना हुआ भोजन खाने से इनकार कर देते हैं। जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वास्तव में शरीर तो अपवित्र है। वह तब ही तक अशुद्ध नहीं मालूम होता, जब तक पवित्र करनेवाला आत्मा उसके भीतर मौजूद है। और आत्मा अवश्य एक दिन इस शरीर को त्याग देता है। चाहे हम कुछ ही खायें, केसर और कस्तूरी ही हमारे भोजन में शामिल हो, तो भी मृतक शरीर दुर्गन्ध के अतिरिक्त सुगंध नहीं फैला सकता। हम जो कुछ भोजन करते हैं वह सब शुद्ध होता है,

परन्तु शरीर के संग से वह सब मैला होता है। अतः जो मेधा बुद्धि रखते हैं, वह तो इस अपवित्र शरीर की अपेक्षा शुद्ध आत्मा से अधिक प्रेम करते हैं। परन्तु जिनकी बुद्धि पर अविद्या का परदा पड़ा हुआ है, वह आत्मा को न जानते हुए, यह मानते हुए दृष्टि पड़ते हैं कि प्रत्यक्ष जगत् तो है, परन्तु आगे दूसरा जन्म नहीं। यद्यपि मौत का भय उनको निशिदिन स्मरण कराता है कि उन्होंने मौत देखी है। क्योंकि जिस वस्तु को देखा नहीं अर्थात् किसी इन्द्रिय से प्रतीत न किया हो उसमें राग द्वेष दोनों का प्रकट होना असम्भव है। और मौत से घृणा करते हुए भी इस बात को नहीं मानते कि मौत पहले देखी हुई है। निदान इसे लोग जो अविद्या के कारण प्रत्यक्ष पदार्थों पर ही आसक्त हैं। जिनको आत्मिक विद्या से कोई प्रेम नहीं वह क्रम से बन्धन में पड़ते हैं। अर्थात् जन्म लेते हैं और मरते रहते हैं। वास्तव में उस आदमी से कोई महा अभागी नहीं हो सकता, जिसको अपनी सत्ता का ज्ञान न हो। परन्तु अविद्या भी एक विचित्र वस्तु है, लाखों मनुष्य हैं जो अपनी सत्ता और गुणों से अनभिज्ञ होते हुए भी यह समझते हैं कि हमारी समता कोई भी नहीं रखता। जिस प्रकार अन्धा सूर्य की सत्ता को नहीं देख सकता। यदि वह यह पक्ष करे कि सूर्य नहीं है, तो उसका यह पक्ष सिवाय उसके अन्धेपन का प्रमाण होने का और क्या हो सकता है। ऐसे ही जो मनुष्य पवित्र जन्म और ईश्वर को अपनी अल्पविद्या और अनभिज्ञता के कारण न जानते हुए मोक्ष के साधनों से वञ्चित रहकर और संसार के प्रेम में फँस कर दूसरों के जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह स्वयं तो डूब रहे हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य,
लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७।३६॥

(शब्दार्थ) (श्रवणाय) सुनने के लिये। (अपि) भी। (बहुभी) बहुत से मनुष्यों को। (यः) जो परमात्मा। (न) नहीं। (लभ्यः) मिलता। (शृण्वन्तः) सुनते हुए। (अपि) भी। (बहवः) बहुत से मनुष्य। (यत्) जिसका। (न) नहीं। (विद्युः) जान सकते। (आश्चर्य) आश्चर्य युक्त। (अस्य) उस परमात्मा का। (वक्ता) उपदेश करनेवाला अर्थात् ब्रह्म विद्या को बताने वाला बहुत कठिनता से मिलता है और उसका मिलना आश्चर्य युक्त है। (कुशलः) अत्यन्त सावधानी से। (अस्य) इस ब्रह्म विद्या का। (लब्धा) प्राप्त करनेवाला अर्थात् मेधा बुद्धि वाला इस विद्या को प्राप्त कर सकता है। (आश्चर्य) अत्यन्त अलभ्य है। (अस्य) इस ब्रह्मविद्या का। (ज्ञाता) जाननेवाला। (कुशलानुशिष्टः) बहुत ही योग्य आचार्य की शिक्षा से इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाला।

(अर्थ) यमाचार्य बताते हैं कि जिस ब्रह्म-विद्या को श्रवण के वास्ते भी बहुत से मनुष्यों को अवसर नहीं मिलता। अर्थात् न तो योग्याचार्य मिलता है और न प्रबल इच्छा ही उसके जानने की होती है। प्रायः मनुष्य इस ब्रह्म-विद्या को पढ़ते और सुनते हैं तो भी इसकी वास्तविक दशा को भले प्रकार नहीं जान पाते। क्योंकि जगत् में नियम ही यह है कि प्रथम तो रत्नों की दुकानें ही बहुत कम होती हैं, दूसरे इसके ग्राहक भी अति कम होते हैं, इस कारण लाखों करोड़ों दीनों को तो रत्नों के नाम तक भी नहीं मालूम और बहुत से मोल लेने की भी शक्ति नहीं रखते हैं। और रत्न-परीक्षकों की दुकानें भी मिल जाती हैं तो वह पहिचान नहीं सकते। ऐसे ही बहुत से लोग ब्रह्म-विद्या की इच्छा भी रखते हैं, ब्रह्म-विद्या के पास जा कर भी अल्प विद्या के कारण से ब्रह्म-विद्या की पहिचान

नहीं कर सकते। वास्तव में ब्रह्म-विद्या के जाननेवाले आचार्य जो इसका उपदेश करें बहुत थोड़े मिलते हैं।

पूर्ण विद्वान् मनुष्य इस विद्या को प्राप्त कर सकता है, इस विद्या को जानना सरल नहीं है। क्योंकि जब तक ब्रह्म श्रोत्रिय अर्थात् ब्रह्म-विद्या को जाननेवाला और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् परमात्मा का पूर्ण विश्वासी आचार्य उपदेश करनेवाला न मिले, तो इसको कोई जान नहीं सकता। और आचार्य की खोज महा कठिन है। क्योंकि जो ब्रह्म-विद्या को जानते हैं वह कहते नहीं और जो कहते हैं वह जानते नहीं। अतएव इसका पता लगना कठिन है। क्योंकि जो कहे कि मैं ब्रह्म-विद्या को जानता हूँ, वह वास्तव में जानता नहीं, इसलिये इससे शिक्षा पाना व्यर्थ है। और जो जानने का प्रण न करे, हम किस प्रकार समझ सकते हैं कि यह जानता है, इससे शिक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्म-विद्या के पढ़ने और पढ़ानेवाले दोनों ही कठिनता से दृष्टि पड़ते हैं।

यमाचार्य ने इस कथन से यह प्रकट किया है कि नचिकेता तू बड़ा ही बुद्धिमान् है, जो ब्रह्म-विद्या को सीखना चाहता है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष,
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति,
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥८।३७॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (नरेण) मनुष्य द्वारा। (अवरेण) जो उस मार्ग तक न पहुँचा हो। (प्रोक्तः) बताते हैं। (एषः) यह ब्रह्म-विद्या। (सुविज्ञेयः) सरलता से जाना जा सकता है। (बहुधः) बहु प्रकार के मनुष्य। (चिंत्यमानः) विचारने से। (अनन्य प्रोक्ते) अन्य के बताए विना अर्थात् जो आचार्य अपनी उपमा न रखता हो उसके उपदेश के विना।

(गति) जान लेना। (अत्र) इस आत्मा के अन्दर या ब्रह्म-विद्या में। (नास्ति) नहीं है। (अणीयान्) क्योंकि वह बहुत ही सूक्ष्म है। (हि) निश्चय करके। (ह्यतर्क्यम्) जिसमें युक्तियों का पूर्ण प्रवेत्नशही है। अणु (प्रमाणात्) सबसे सूक्ष्म होने के कारण।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता! यह ब्रह्मज्ञान उन मनुष्यों के उपदेश जो परमार्थ ज्ञान से शून्य हैं, जिनको प्राकृतिक पदार्थ विद्या का ही ज्ञान है, जानने योग्य नहीं। यद्यपि योगी लोग और संसार के भक्ति मार्ग वाले इसको बहु प्रकार से विचार करते हैं। उनकी शिक्षा से इस ब्रह्म-विद्या का जानना सरल नहीं। अतिरिक्त ब्रह्म-श्रोत्रिय अर्थात् वेदों के अतिरिक्त विद्वान् और ब्रह्मनिष्ट ईश्वर के विश्वासी आचार्य के और प्रकार इस विद्या में गति अर्थात् प्रवेश नहीं हो सकता। और न अपने आप विना अन्य के उपदेश के उसको कोई जान सकता है। आशय यह है कि न तो अल्पविद्यावाले गुरु से इसका ज्ञान हो सकता है और न विना गुरु के ब्रह्म-विद्या को जान सकते हैं क्योंकि ब्रह्म के सूक्ष्म होने से ब्रह्म-विद्या भी सूक्ष्म है और इसमें तर्क को पूरा पूरा दखल नहीं। क्योंकि तर्क हेतु और उदाहरण को लेकर चलती है। इस स्थान पर हेतु और उदाहरण मिलना दुस्तर हैं, क्योंकि जहाँ से हेतु और उदाहरण मिलता है वह सब स्थूल जगत् में से मिलते हैं, जिसका कि मिला हुआ होना उचित है। और पृथक् में मिलावट का उदाहरण दोष है। अतः परमात्मा के अति सूक्ष्म होने से इसको केवल ब्रह्म-श्रोत्रिय गुरु की शिक्षा के द्वारा ही ठीक प्रकार जान सकते हैं।

नैषा तर्केण मतिरापनेया,
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ!।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि,
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥६।३८॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (एषा) यह मेरी दी हुई बुद्धि या ज्ञान। (तर्केण) तर्क द्वारा। (मतिः) ब्रह्म-विद्या। (आपनेया) त्यागने योग्य। (प्रोक्ता) कही हुई। (अन्येन एव) दूसरे अर्थात् तर्क के जाननेवाले से पृथक् वेद के जानने वाले आचार्य की भी। (सुज्ञानाय) अच्छे ज्ञान के लिये। (प्रेष्ठ) सबसे प्रिय। (याम्) जिसको। (त्वम्) तू। (आपः) प्राप्त कर चुका है। (सत्य धृतिः) सत्य धैर्य वाले। (वतअसि) हो। (त्वादृक्) तेरे जैसा। (नः) हमारा। (भूयात्) हो। (नचिकेतः) हे नचिकेता। (प्रष्टा) शिष्य अर्थात् पूछनेवाला।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! तू मेरी दी हुई उस विद्या को तर्क करके नष्ट नहीं कर देना, क्योंकि यह तर्क से भी बलवान वेद के जाननेवाले आचार्य का उपदेश है। तर्क में भूल हो सकती है, यथा हेतु की जगह हेत्वाभास अर्थात् धोका देखने में आता है। परन्तु वेद का उपदेश सत्यज्ञान के वास्ते है। हे प्रिय पुत्र! जिस ब्रह्म-विद्या को तूने प्राप्त किया है उसको सत्य और धैर्य के साथ काम में ला और क्रिया से पूर्ण होकर आचार्य ने कहा—हे नचिकेता! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि तेरे जैसा और भी विद्यार्थी मुझको मिले। क्योंकि ऐसे अधिकारी विद्यार्थी के पढ़ाने से ऋषि ऋण पूरा होता है। आशय यह है कि जिस समय किसी गुरु को अधिकारी विद्यार्थी मिल जाता है, तो उसको इतनी प्रसन्नता होती है कि जिसकी सीमा नहीं।

प्रश्न—मनु ने कहा है कि जो तर्क से जाना जावे वही धर्म है, यहाँ पर यमाचार्य तर्क को त्यागते हैं।

उत्तर—इस मार्ग पर पहुँच कर तर्क काम नहीं देती।

क्योंकि इस सूक्ष्म पदार्थ के वास्ते जिन वस्तुओं की आवश्यकता है वह तर्क से नहीं मिल सकती। मनु ने धर्म अर्थात् कर्तव्य के सम्बन्ध में तर्क का उपदेश किया है और यह विज्ञान का मार्ग है। इस कारण इन दोनों में विरोध नहीं। जैसे ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम में यज्ञोपवीत पहिनते हैं और संन्यास में उतारते हैं, परन्तु आश्रम-भेद के कारण से दो प्रकार के उपदेश में कोई विरोध नहीं।

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं,
नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोग्नि,
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ १०।३९

(शब्दार्थ) (जानामि) जानता हूँ। (अहम्) मैं। (शेवधि) धन दौलत को। (अनित्यम्) अनित्य। (इति) यह। (न) नहीं (हि) निश्चय करके। (अध्रुवैः) स्थिर न रहनेवाले धनादि से। (प्राप्यते) प्राप्त होता है। (ध्रुवम्) अचल अर्थात् नित्य। (तत्) वह ब्रह्म। (ततः) इस कारण ब्रह्म की अभिलाषा को त्याग करके। (मया) मैंने। (नाचिकेतः) हे नचिकेता जिस अग्नि का तुझको उपदेश किया है। (चितः) यज्ञ किया। (अग्निः) अग्नि द्वारा। (अनित्यैः) स्थिर न रहनेवाले। (द्रव्यैः) द्रव्यों से अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर से। (प्राप्तवान्) प्राप्त किया है। (अस्मि) मैंने। (नित्यम्) उस नित्य ब्रह्म को।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! मैं इस संसार में जो धन ऐश्वर्य और प्रभुत्व है उसको अनित्य अर्थात् स्थिर न रहनेवाला जानता हूँ। और यह भी जानता हूँ कि इस धनादि से जो स्थिर रहनेवाला नित्य ब्रह्म है वह प्राप्त नहीं हो सकता। इस कारण हे नचिकेता जिस अग्निहोत्र या

यज्ञ का मैंने तुमको उपदेश किया है, निष्काम मैंने इस यज्ञ को कहा है, जिससे मैं अनित्य द्रव्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर के द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। उस नित्य ब्रह्म का आशय यह है कि यदि कोई धनादि से परमात्मा को प्राप्त करने की कोशिश करता है तो वह प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु यदि वह निष्काम-परोपकार रूप यज्ञ में उस धन वैभव को लगावे तो उसके अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से इन्द्रियाँ वश में आ जावेंगी। और इन्द्रियों के आधीन होने से वह शुद्ध ब्रह्म जाना जा सकता है। इस कारण हे नचिकेता, मैंने इन अनित्य पदार्थों के त्याग से उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां,
क्रतोर-नन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममह-दुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा,
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११।४०॥

(शब्दार्थ) (कामस्य) इच्छानुकूल भोग के। (आप्तिम्) प्राप्त होने को। (जगतः) प्राणिमात्र को। (प्रतिष्ठाम्) सम्पूर्ण जगत् स्त्री पुरुष के फल से ही उत्पन्न होता है। (क्रतोः) अश्वमेधादि यज्ञ की। (अनन्त्यम्) जिसका अन्त न हो, अखंड। (अभयस्य) अभय अर्थात् स्वतंत्रता की। (पारम्) सीमा जहाँ कुछ भी भय न हो। (स्तोममहत्) जिसकी प्रशंसा सब मनुष्य करते हों। (उरुगायं) जिसकी प्रशंसा बहुत से लोग करते हों। (प्रतिष्ठाम्) इस प्रतिष्ठा को। (दृष्ट्वा) देखकर। (धृत्या) धैर्य से। (धीरः) ध्यान करने-वाला। (नचिकेतः) हे नचिकेता तूने। (अत्यस्राक्षीः) त्याग कर दिया है।

(अर्थ) हे नचिकेता! यद्यपि जगत् स्त्री पुरुष के फल से ही उत्पन्न हुआ है और स्थित है, तो भी तेरे अन्तःकरण में

उसकी इच्छा नहीं। यद्यपि यज्ञ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध तक अनन्त और अखंड हैं। यद्यपि निर्भयता और स्वतंत्रता की सीमा तक पहुँच सकता है। यद्यपि जगत् में सर्व साधारण लोग प्रशंसा करते हैं।

यद्यपि कवि लोग जिसकी प्रशंसा की कविता, यह भी उत्तम है। परन्तु हे नचिकेता, तूने इन सबको तुच्छ समझकर ध्यान के द्वारा मूल तत्त्व को मालूम करके धैर्य्य से त्याग किया है। जिससे तेरे ज्ञान की प्रशंसा करनी पड़ती है। क्या इस कथा को देखकर भी कोई कह सकता है कि भारत के मनुष्य असभ्य थे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं
गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं,
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२।४१॥

(शब्दार्थ) (तम्) जो बहुत सुननेवालों को भी कठिनता से मिलता है उस परमात्मा को। (दुर्दर्शम्) जो महा-कठिनाई से देखा जा सकता है। (गूढम्) जो इन्द्रियों की शक्ति से बाहर होने के कारण छिपा हुआ है। (अनुप्रविष्टम्) जो शरीर के भीतर रहनेवाले जीव के भी भीतर प्रवेश कर रहा है। (गुहाहितं) जो मेधा बुद्धि के भीतर स्थिर है। (गह्वरेष्ठम्) जो ऐसे स्थान पर रहता है जहाँ पहुँचना दुस्तर है। (पुराणम्) जो अनादि काल से है। (अध्यात्मयोगाधि-गमेन) बाहर की इन्द्रियों को रोक कर चित्त को एक जगह एकत्र करने से, जो जाना जाता है ऐसे। (देवम्) प्रकाश स्वरूप को। (मत्वा) जानकर। (धीरः) ध्यान करने का स्वभाव रखनेवाला धीर पुरुष विद्वान्। (हर्षशोकौ) हर्ष और शोक को। (जहाति) त्याग देता है अर्थात्

उसे लाभ हानि ही नहीं मालूम होती जिससे हर्ष शोक प्राप्त हो।

(अर्थ) जिस परमात्मा को यह लोग उसकी प्रशंसा सुनकर भी नहीं जान सकते, उस कठिनता से देखने योग्य परमात्मा के जानने से स्वाभाविक ध्यानवाला विद्वान् जगत् के रोग द्वेष और शोक से युक्त हो जाता है। वह परमात्मा कहीं दूर नहीं किन्तु इन्द्रियों की शक्ति से परे होने के कारण छिपा हुआ है। जैसे आँख से सुरमा कहीं दूर नहीं होता परन्तु बहुत ही पास होने से दृष्टि नहीं आता। ऐसे ही जीवात्मा जो शरीर में प्रवेश कर रहा है वह उस जीवात्मा के भी अन्दर मौजूद है। केवल बुद्धिः अर्थात् मन के भीतर ही उसका प्रतिबिम्ब क़ायम हो सकता है अथवा ज्ञान से ही देख सकते हैं। क्योंकि वह ऐसे स्थान पर भी है जहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि वह सदैव से सब में व्यापक है, परन्तु तो भी उसको कठिनता से जान सकते हैं। केवल वह लोग जो मन को शुद्ध और स्थिर करके उसके प्रतिबिम्ब को देख सकते हैं अर्थात् मन के एकाग्र होने से इसके आनन्द को जानने से उसे जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या भक्तों को परमात्मा का दर्शन नहीं होता?

उत्तर—जो ज्ञान उत्पन्न करके मन को निष्काम कर्म से शुद्ध करले, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करे और अहंकार के परदे को दूर कर सके, वही परमात्मा को जान सकता है। विना ज्ञान की भक्ति के उसका जानना असम्भव है।

प्रश्न—इस समय बहुत से मनुष्य कहते हैं अमुक मनुष्य परमेश्वर के पास गया और उससे अकाल पुरुष ने यह कहा; जिससे साफ़ मालूम होता है कि वह किसी एक स्थान पर रहता है और भक्तों से बातें भी करता है।

उत्तर—जो कोई उसके पास जाता है अपने भीतर ही जाता है। दूसरे स्थान पर जाकर देखना असम्भव है। हाँ

किसी महात्मा ने स्वप्न देखा हो तो सम्भव है। और स्वप्न में या भंग की तरंग में बातें भी की हों वास्तव में नहीं।

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदतेमोदनीयंहि लब्ध्वा,
विवृतं सद्म नचिकेतसम्मन्ये॥ १३। ४२॥

(शब्दार्थ) (एतत्) उपर्युक्त परमात्मा या ब्रह्म-विद्या को। (श्रुत्वा) सुनकर या आचार्य से पढ़कर। (सम्परिगृह्य) ठीक-ठीक जानकर। (मर्त्यः) मरण धर्मवाला मनुष्य। (प्रवृह्य) आत्मिक-बल की उन्नति करके। (धर्म्यम्) अपने धर्म से। (अणुम्) मोक्ष। (एतम्) उस परमात्मा को। (आप्य) प्राप्त होकर। (सः) वह। (मोदते) खुश होता है। (मोदनीयं) आनन्द स्वरूप परमात्मा को लाभ उठाता है। (लब्ध्वा) प्राप्त करके। (विवृतं) साफ़। (सद्म) जल्दी। (हे नचिकेतः) हे नचिकेता। (मन्ये) मानता हूँ।

(अर्थ) उपर्युक्त परमात्मा या ब्रह्म-विद्या को आचार्य से पढ़कर और सब प्रकार जानकर, मरण धर्मवाला मनुष्य आत्मिक बल की उन्नति करके, अपने धर्म के योग्य मोक्षरूपी उस परमात्मा को प्राप्त होकर वह खुश होता है। हे नचिकेता, आनन्द स्वरूप उस परमात्मा को पाकर प्रत्यक्ष जल्दी ही होता है, यह मैं मानता हूँ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राऽधर्मादन्यत्रास्मात्कृताऽकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।१४।४३

(शब्दार्थ) (अन्यत्र) पृथक्। (धर्मात्) धर्म से। (अन्यत्र) पृथक्। (अधर्मात्) अधर्म से। (अन्यत्र) पृथक्। (अस्मात्) इस प्रत्यक्ष से। (कृताकृतात्) कार्य और कारणवाले संसार से। (अन्यत्र) पृथक्। (भूतात्) भूत काल से। (भव्यात्) आने वाले

से। (यत्) जो। (तत्) उसको । (पश्यसि) उसको देखता है। (तत्) उसको। (वद) कहिये।

(अर्थ) हे आचार्य! जिसको धर्म अर्थात् जो कुछ करने योग्य काम हैं और अधर्म जो कुछ करने योग्य नहीं हैं। इनसे पृथक् आप जानते हैं और जो कुछ इस प्रत्यक्ष जगत् में जिसको कार्य और कारण के सम्बन्ध से देखते हैं, प्रत्येक कार्य अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कारण मालूम होता है। और कारण के गुणों के अनुकूल ही कार्य में गुण पाये जाते हैं। जो इस कारण कार्य के सम्बन्ध से पृथक् है, जो बीत गया उस शब्द से जिस काल को और आनेवाला है, इस शब्द से जो तीन काल होते हैं इन तीन कालों से जो पृथक् है। क्योंकि काल का सम्बन्ध अनित्य वस्तु से होता है। अतः जो नित्य पदार्थ हैं, जिनमें किसी प्रकार का विकार या परिणाम नहीं होता, जिनको आप इन गुणों से युक्त गुणी जानते हैं उनको मुझे बतावें। वेद की श्रुति से प्रकट है कि परमात्मा किसी वस्तु का प्राकृतिक कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में उसकी गणना कारण में होती है; अतः इस कारण से पृथक् बताकर सिद्ध कर दिया कि परमात्मा जगत् का प्राकृत कारण नहीं और उससे यह भी प्रकट है कि परमात्मा को जानकर ही शान्ति हो सकती है। यदि जगत् का प्राकृतिक कारण आनन्द स्वरूप परमात्मा होता, तो जगत् में आनन्द मिल सकता, परन्तु जगत् का प्राकृत कारण परमात्मा नहीं, अतः उससे आनन्द भी नहीं मिल सकता। अतः जो इस जगत् से पृथक है, उसकी खोज आनन्द के इच्छुकों को अवश्य है। अब यमाचार्य उपदेश करते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ १५।४४॥

(शब्दार्थ) (सर्वे वेदाः) ऋक्, यजु, साम और अथर्व चारों वेद। (यत्) जिस। (पदम्) ब्रह्म के प्रकाश करनेवाले शब्द को। (आमनन्ति) बार-बार कहते हैं। (तपांसि) तप। (सर्वाणि) हर प्रकार के यम नियम आदि। (च) और। (यत) जिसको। (वदन्ति) कहते हैं। (यत्) जिसकी। (इच्छन्तः) इच्छा रखते हुए। (ब्रह्मचर्य) ब्रह्मचर्य व्रत को। (चरन्ति) अमल में लाते हैं। (तत्) इस। (ते) तेरे मिलने योग्य। (पदम्) शब्द को अर्थात् ब्रह्म के नाम को। (संग्रहेण) संक्षेप से। (ब्रवीमि) कहता हूँ। (ओ३म्) ओ३म्। (इति एतत्) यह परमात्मा का सब से उत्तम नाम है।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता! जिस शब्द को सब वेद परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधन बताने के लिये बार-बार कहते हैं, जिसके प्राप्त करने के लिये वेदों ने हर प्रकार के तप और साधन बताए हैं अर्थात् पहले पढ़ने में जितना कष्ट होता है फिर अतःकरण की शुद्धि के लिये अनेकों प्रकार के व्रत करने में और यज्ञ आदि की सामग्री के एकत्रित करने और निष्काम परोपकार करके अन्तःकरण को ठीक करके इसको एक ओर लगाने के लिये अभ्यास और वैराग्य के साधनों को ठीक करने में जिस प्रकार के तप बताए हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम धारण किया जाता है। अर्थात् समस्त इन्द्रियों को रोक ब्रह्म अर्थात् वेद के नियम की पूरी-पूरी आज्ञा पालन करते हुए वेदों की शिक्षा पाते हैं। जिससे वह बाधा अँधेरे की जिसके कारण से अपने में व्यापक परमात्मा को भी जान नहीं सकते। जिस प्रकार दर्पण से ही आँख और आँख का अंजन दृष्टि पड़ता है, इसी प्रकार मनरूपी दर्पण से ही

जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान हो सकता है। विना मन के शुद्ध हुए उसको देख नहीं सकते, परंतु अँधेरी रात में कुछ दृष्टि ही नहीं आता। इस कारण चाहे दर्पण से आँख का अंजन दीखता हो या आँख से किसी दूसरी वस्तु को प्रकाश की दशा की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के वास्ते जिस प्रकार की आवश्यकता है वह वेद-विद्या है। जिसके यथावत् प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रम है। बिना ब्रह्मचर्याश्रम के वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जिस पद अर्थात् शब्द के जानने के वास्ते उपर्युक्त साधन किये जाते हैं, उस साधन को संक्षेप से तुझे बताता हूँ। वह पद केवल ओ३म् है अर्थात् आकार से व्यापक होने का उकार, प्रकाशक होने का प्रमाण और मकार से बुद्धिमत्ता और प्रकाश स्वरूप तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब कामों का पता ओ३म् से लग जाता है। अधिक व्याख्या माण्डूक्य में देखो।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरंपरम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६। ४५ ॥

(शब्दार्थ) (एतद्) यह अकार, उकार, मकार से बना हुआ जो अक्षर। (हि) निश्चय करके। (एव) ही। (अक्षरम्) नाश रहित। (ब्रह्म) सब में व्यापक। (एतद्) यही। (एव) ही। (अक्षरम्) नाश रहित। (परम्) नियत मार्ग अथवा मोक्ष का ज्ञान है। (एतद्) इस। (एव) ही। (अक्षरम्) ओ३म् को। (ज्ञात्वा) जानकर। (यः) जो मनुष्य। (यत्) जो वस्तु। (इच्छति) इच्छा रखता हो। (तस्य) उसको। (तत्) वह वस्तु मिल जाती है।

(अर्थ) यमाचार्य उपदेश करते हैं कि हे नचिकेता!

ओ३म् अक्षर है यही सब से बड़ा और नाश रहित ब्रह्म है। और वही मनुष्य जीवन का नियत मार्ग या सब से बढ़कर जानने योग्य पदार्थ और ज्ञान की अंतिम सीमा है। सारे साधन इसके ज्ञान के लिये ही आवश्यकीय हैं। जिस प्रकार मार्ग की कुल सामग्री नियत स्थान पर पहुँचने के लिये होती है। ऐसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सब पदार्थ ओ३म् को जानने के लिये ही हैं। जिस प्रकार समस्त रसोई की सामग्री का आशय केवल पेट भरना ही होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण साधनों की प्राप्ति कवल परमात्मा के जानने के लिए है। और जो मनुष्य उस अक्षर को जान जाता है अर्थात् जिसको परमात्मा का ज्ञान हो जाता है उसको जो कुछ इच्छा होती है वह सब पूर्ण हो जाती है। प्रथम तो ओ३म् को जानने के पश्चात् किसी इच्छा का होना ही कठिन है, क्योंकि नियत मार्ग पर पहुँचने से प्रथम मार्ग की सामग्री दृष्टिगोचर होती है कोई ऐसा नहीं होता जिसकी इच्छा शेष है, उसी ओ३म् को आदि जगत् से मनुष्य सब से उत्तम नाम कहते चले आये हैं। इस नाम के ज्ञान से हर प्रकार का कष्ट स्वयं दूर हो जाता है, सम्पूर्ण सुखों का श्रोत यही मुख्य नाम है। जो लोग ओ३म् के उपासक हैं उनको हर्ष, शोक, भयादि से कोई संबंध ही नहीं। जिस स्थान में सूर्य का प्रकाश हो, वहाँ किसी प्रकार का अंधकार हो ही नहीं सकता। ऐसे ही जिस किसी ने ओ३म् को जान लिया है उसको अविद्या हो नहीं सकती। जहाँ अविद्या नहीं है वहाँ दुख किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि अविद्या से राग द्वेष में प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति अर्थात् बुरे भले कामों के करने से पाप पुण्य होते हैं और पाप पुण्य से जन्म मरण होते हैं जिससे दुख होता है। जहाँ अविद्या नहीं, वहाँ राग द्वेष हो ही नहीं सकता। जहाँ राग द्वेष नहीं, वहाँ दुख किसी प्रकार उत्पन्न नहीं होते। अतः एक ओ३म् के स्वरूप का जान लेना ही सम्पूर्ण क्लेशों से मुक्त हो जाना है।

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतादलम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७।४६॥

(शब्दार्थ) (एतद्) ओ३म् की उपासना ही। (आलम्बनं) साधन। (श्रेष्ठ) सर्वोत्तम साधन। (एतद्) यही। (आलम्बनं) साधन। (परम्) सबसे अन्तिम परमात्मा की प्राप्ति के लिये हैं। (एतद्) इस। (आलम्बनं) साधन को। (ज्ञात्वा) ज्ञान के अनुकूल कर्म करके (ब्रह्म-लोके) ब्रह्म के दर्शन की। (महीयते) महिमा को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

(अर्थ) ओ३म् की उपासना सर्व श्रेष्ठ मुक्ति का साधन है, और साधन में वह सब ओ३म् की उपासना के योग्य बनने के वास्ते ज्ञान की आवश्यकता है। परन्तु इसलिये कि उपासना के योग्य बन जावें अर्थात् अविद्या जो उपासना के मार्ग में बाधा डालनेवाली है दूर हो जावे। कर्म की आवश्यकता है, इसलिये हमारा मन जो मैला है लग नहीं सकता। इसमें लगाने के लिये शुद्ध मन की जरूरत है और विना निष्काम कर्म के मन शुद्ध हो नहीं सकता। और विना मन की बुद्धि के ओ३म् की उपासना सम्भव ही नहीं। अतः जितने साधन हैं वह सब इससे पहले ही होते हैं। ब्रह्म के जानने के लिये यह सब से अंतिम साधन है। जिसने इस साधन को जान लिया है वह ब्रह्मलोक के सुख अर्थात् ब्रह्म दर्शन के आनन्द को प्राप्त होता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चि,
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ । ४७ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं । (जायते) उत्पन्न होना । (म्रियते) मरना । (विपश्चित्) ज्ञान स्वरूप परमात्मा । (न) नहीं । (अयं) सर्वज्ञ परमात्मा । (कुतश्चित्) किसी कारण से । (बभूव) पैदा हुआ है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं, क्योंकि नित्य है । (कश्चित्) कोई उसकी संतान बेटा आदि भी नहीं । (अजः) अजन्मा । (नित्यः) नित्य । (शश्वतः) अनादि है । (अयम्) यह परमात्मा । (पुराणः) सनातन किन्तु एक रूप है । (न) नहीं । (हन्यते) नाश होता है । (हन्यमानेः) नाश होने से । (शरीरे) शरीर के ।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! यह जीवात्मा और परमात्मा न तो उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं । क्योंकि ज्ञान स्वरूप परमात्मा और चेतन जीवात्मा मिश्रित नहीं, इसलिये इनका कोई कारण नहीं जिससे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की जावे और न यही कि किसी की हालत से बनी है जो इनसे उत्पन्न हो ।

उपादान कारण—

यह दोनों उत्पत्ति से पृथक् हैं और नित्य हैं । एक राजा है, दूसरा उसकी प्रजा है और सर्वदा एक रस रहते हैं । ६ विकार अर्थात् उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, रूप बदलना, घटना और नाश हो जाना, इनसे यह दोनों पृथक् हैं क्योंकि यह विकार मिश्रित हैं और दुनिया में पाये जाते हैं ।

जो कुछ उत्पन्न होता है वह कर्म अर्थात् काम करने से उत्पन्न होता है । काम करने से दो गुण उत्पन्न होते हैं, एक संयोग दूसरे वियोग । यह दो गुण मिश्रित में रहते हैं, दो अणुओं के मिलने से संयोग उत्पन्न होता है । एक अणु में संयोग ही है अर्थात् मृत्यु और उत्पत्ति शरीर के लिये हैं । उसमें रहनेवाले जीव और ब्रह्म शरीर के नाश होने से नाश नहीं होते और उत्पत्ति से उत्पन्न नहीं होते ।

प्रश्न—जब कि जीव और ब्रह्म शरीर में रहते हैं तब उनका शरीर से संयोग क्यों न स्वीकार किया जावे। और जीव शरीर को छोड़ता भी है, इस कारण उसमें वियोग भी क्यों न स्वीकार किया जावे।

उत्तर—संयोग गुण कर्म के स्वभाव से उत्पन्न होता है ब्रह्म स्वतन्त्र है उस पर कर्म का प्रभाव हो नहीं सकता अर्थात् ब्रह्म में गुण मानना ठीक नहीं। दूसरे जीव भी कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसमें भी संयोग तथा वियोग का मानना उचित नहीं। अर्थात् संयोग और वियोग उपादान कारण में ही कर्ता के कर्म प्रभाव से होते हैं। क्योंकि ब्रह्म और जीव उपादान कारण नहीं, इस कारण उनमें संयोग और वियोग के न होने से ६ विकार नहीं। अर्थात् यह विकार शरीर में ही हो सकते हैं, ब्रह्म और जीव विकारों से पृथक् एक रस है। और जब तक इनसे पृथक् कोई उपादान कारण न हो जिस पर इनके कर्म का प्रभाव हो, तब तक शरीर पैदा ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—सब मत वाले यह मानते हैं कि दुनिया में ईश्वर ही उपादान कारण है, अन्य कोई वस्तु उपादान कारण नहीं है। फिर दुनिया की उत्पत्ति ईश्वर के विना किससे हो सकती है।

उत्तर—परमेश्वर सबका कारण है क्योंकि कर्त्ता के कार्य से ज्ञान स्वरूप परमात्मा का वोध होता है। परमाणुमय प्रकृति है और स्वरूपहीन दीन जीवात्मा है। और परमेश्वर ज्ञान स्वरूप है क्योंकि यह नियम है विशेषण से विशेष्य की उत्पत्ति नहीं होती और न विशेष्य से विशेषण की। अर्थात् सब अनादि है और शेष सब गुण हैं।

ईश्वर का गुण ज्ञानमय है, किसी ने उसको वाला बतलाया है। अगर वह संसार का उपादान कारण है तो किसी दशा में संयोग और वियोग के प्रभाव से पैदा नहीं हो सकता। संयोग और वियोग का प्रभाव स्वतंत्र पर नहीं होता और परतंत्र पर होता है अर्थात् उपादान कारण होने के लिये उसका

परतंत्र होना आवश्यकीय है। और कर्ता के कर्म के लिये स्वतंत्र होना आवश्यकीय है यह दोनों परस्पर में विपरीत हैं, जिनका मिश्रित होना असम्भव है। अगर कहो कि उसको विकृत मान कर किसी अंश में ले लेंगे। जैसे कि आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र, फल भोगने में परतन्त्र है। लेकिन परमात्मा की दशा सम्भव नहीं। इस कारण परमात्मा एक रस है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं
हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो
नायं हन्ति न हन्यते ॥१९।४८॥

(शब्दार्थ) (हन्ता) मारनेवाला। (चेत्) यदि हो। (मन्यते) मानता है। (हन्तुम्) मैं आत्मा को मार सकता हूँ। (हतः) मरा हुआ। (चेद्) यदि हो। (मन्यते) मानता है। (हतम्) मरा हुआ। (उभौ) दोनों अर्थात् मरने और मारनेवाले, जाननेवाले। (तौ) वह दोनों आत्मा। (न) नहीं। (विजानीतः) जानते हैं। (न) नहीं। (अयम्) यह जीवात्मा और परमात्मा। (हन्ति) मारने में। (न) नहीं। (हन्यते) मरते हैं।

(अर्थ) जब कोई मनुष्य जगत् में मरता है, तो लोग कहते हैं कि इसको परमेश्वर ने मार दिया या अमुक मनुष्य ने मारा। यह विचार अज्ञानी मनुष्यों का है, क्योंकि ईश्वर न तो अपनी इच्छा से कोई काम करता है कि उसको मारनेवाला कहा जावे। वह तो स्वभाव से मरता है, अतः उसका प्रभाव कर्मों के अनुकूल पड़ता है। जिसके जैसे कर्म हैं उस पर ईश्वर के न्याय का प्रभाव ऐसा ही पड़ता है। अर्थात् जिसके कर्म मरने के हैं वह ईश्वर के न्याय नियम से मरता है और जिसके कर्म मौत के योग्य नहीं वह नहीं मरता। इस कारण ईश्वर को मारने-वाला कहना अज्ञानता है। जीव को किसी के मारने की शक्ति

नहीं, अतः जीव और ब्रह्म को मारनेवाला समझना भूल है। आत्मा को मरने और मारनेवाला समझने वाले दोनों अज्ञानी हैं। न तो आत्मा मरता है और न किसी को मारता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों को बताकर अब अकेले परमात्मा को बताते हैं।

अणोरणीयान् महतो महीया,
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको,
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥२०।४६॥

(शब्दार्थ) (अणोः) सूक्ष्म से। (अणीयान्) सूक्ष्म। (महतः) बड़ों से भी। (महीयान्) बड़ा। (आत्मा) वह व्यापक परमेश्वर। (अस्य) इस। (जन्तोः) इस प्राणी जीव के। (निहितः) नियत है। (गुहायाम्) बुद्धि में। (तम्) उसको। (अक्रतुः) इच्छा से कर्म न करने वाला। (पश्यति) जो जानता है अर्थात् जिसको यह विद्या है कि परमात्मा अपनी इच्छा से काम नहीं करता। (वीतशोकः) वह शोक से पृथक जीव को मालूम होता है। (धातुः प्रसादात) सत् असत् को धारण करनेवाली बुद्धि। (महिमानम्) महत्ता को। (आत्मनः) आत्मा की।

(अर्थ) वह परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। अतः यह नियम है कि सूक्ष्म के भीतर स्थूल के गुण नहीं जा सकते परन्तु स्थूल के भीतर सूक्ष्म के गुण आ सकते हैं। अतः सब से सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा में किसी का गुण नहीं जा सकता। वह सब में व्यापक है, महान् से भी महान् होने के कारण सब उसके भीतर हैं। अतः कोई उसके राज्य से बाहर भी भाग कर नहीं जा सकता। वह प्रत्येक मनुष्य के मन के भीतर उसके

संकल्प को देख रहा है। मनुष्य समझता है कि छिपकर पाप करता हूँ, परन्तु दंड देनेवाला उसके भीतर व्यापक होने से देख रहा है। उससे हमारा कोई कर्म गुप्त नहीं रह सकता। जिससे झूठे साक्षी या वकीलों के कारण हम उसकी सज़ा से बच सकें। वह अपनी इच्छा से किसी को सुख दुःख नहीं देता, क्योंकि वह न्यायकारी और दयालु है। उसका न्याय प्रत्येक के लिये एक समान है। वह विना कारण किसी को मित्र या शत्रु नहीं जानता, न उसके राज्य में किसी प्रकार का अन्याय हो सकता है। वह स्वभाव से ही कर्मों का फल देता है।

जो मनुष्य संसार की चिंताओं से स्वतंत्र होकर मन को शुद्ध कर लेते हैं, वही उसको मेधा बुद्धि के कारण देख सकते हैं। जिनकी बुद्धि में किसी प्रकार का दोष है या जिनका मन संसार की चिंताओं में लिप्त हो रहा है, उनको इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—श्रुति ने तो अणु से भी अणु अर्थात् छोटे से भी छोटा बताया है, तुमने इसका अर्थ सूक्ष्म से सूक्ष्म क्यों किया?

उत्तर—श्रुति का अर्थ यहाँ अणु से सूक्ष्म का ही है, क्योंकि जो सब से छोटा है, वह बड़ो से बड़ा नहीं हो सकता। अतः यहाँ भी अर्थ सत्य है कि वह छोटों से छोटा नहीं, किन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

प्रश्न—श्रुति ने तो बताया है कि जो उसका करना होना नहीं मानता। तुम इच्छा से करना होना अर्थ करते हो।

उत्तर—श्रुति का अर्थ तो इच्छुक के प्रतिकूल है। क्योंकि दूसरी श्रुति ने उसमें स्वाभाविक करना स्वीकार किया है, यदि यहाँ करने का विरोध किया जावे तो सत्य नहीं। क्योंकि परमात्मा का लक्षण जगत पैदा करने, स्थिर रखने और नाश करनेवाला स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—मन के शुद्ध करने के लिये जगत् की चिन्ता से स्वतंत्रता की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जीवात्मा काम करने में स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र है। जो मनुष्य इस बात को समझ जाते हैं, जो भोग के लिये पुरुषार्थ नहीं करते, किंतु सर्वदा करने में लगे रहते हैं, यदि भोग की चिन्ता है, तो संसार का उपकार नहीं हो सकता। अतः संसार के उपकार के लिये भोग की चिन्ता से मुक्त रहना जरूरी है। दूसरे भोग की चिन्ता करना अविद्या है, जहाँ अविद्या है वहाँ विद्या नहीं आ सकती, जैसा कि कहा है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥२।१।५०॥

(शब्दार्थ) (आसीनः) स्थिर होने पर भी। (दूरम्) बहुत दूर। (व्रजति) जहाँ कोई जावे वहाँ आगे ही उपस्थित पाया जाता है। (शयानः) जब स्वप्नावस्था तमोगुण के परदा से ढँक जाता है। (याति) मन के काम करने से मन में ठहरा हुआ भी काम करता हुआ मालूम होता है। (सर्वतः) सब जगह पर जाता हुआ। (कः) कौन। (तम्) उस। (मदामदम्) अपने आनन्द से पूर्ण, विषयों के भोग से पृथक्। (देवम्) प्रकाश स्वरूप को। (मदन्यः) मेरे सिवाय। (ज्ञातुमर्हति) जान सकता है।

(अर्थ) अब यमाचार्य नचिकेता के अन्तःकरण में श्रद्धा स्थापित करने के लिये जिससे उनकी शिक्षा से वह लाभ उठा सके, कहते हैं—हे नचिकेता! वह परमात्मा गति से पृथक् है, क्योंकि वह वस्तु गति कर सकती है जिसकी उपस्थिति से कोई स्थान खाली हो। परमात्मा पहले ही से सर्वव्यापी है, अतएव कहाँ गति करे। तो भी इतना बड़ा है कि कहीं चले जाओ वह पहले ही से मौजूद होगा। और जिसके नियम के भीतर स्वप्न की अवस्था में तमोगुण से परदा में आने के कारण, वह जीवात्मा शरीर के भीतर रहता हुआ, सब जगह जाता हुआ

मालूम होता है, जो अपने आनन्द से परिपूर्ण है। परन्तु संसार के विषयों को नहीं भोगता। सुतराम् आनन्द स्वरूप और विषय सुख से पृथक् जो प्रकाश स्वरूप परमात्मा है उसको मेरे सिवाय कौन जान सकता है। आशय यह है कि मैंने परमात्मा को जान लिया है।

प्रश्न—पहले केनोपनिषद् में सिद्ध कर चुके हैं कि जो कहता है कि मैं परमात्मा को जानता हूँ, वह नहीं जानता। जो कहता है कि मैं नहीं जानता, वह जान सकता है। फिर यमाचार्य ने उसके विरुद्ध क्यों कहा?

उत्तर—यमाचार्य ने अभिमान नहीं किया कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, किन्तु नचिकेता की श्रद्धा क़ायम करने के वास्ते कहा।

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति२ २।५।१

(शब्दार्थ) (अशरीरम्) शरीर रहित। (शरीरेषु) शरीरों में। (अनवस्थेषु) स्थिति रहितों में। (अवस्थितम्) ठहरा हुआ। (महान्तम्) बड़े। (विभुम्) व्यापक। (आत्मानम्) जीवात्मा और परमात्मा को। (मत्वा) मान के। (धीरः) बुद्धिमान्। (न) नहीं। (शोचति) शोक करता है।

(अर्थ) उस परमात्मा का शरीर नहीं अर्थात् न तो स्थूल शरीर है न सूक्ष्म; परन्तु तो भी वह प्रत्येक शरीर में रहते हैं। यद्यपि वह काम करता हुआ जगत् के अन्दर रहता है, लेकिन फिर भी न काम करता हुआ पाया जाता है। उनकी बड़ाई की सीमा नहीं, किंतु वह सब से बड़ा है। कोई संसार में ऐसी वस्तु नहीं जो इनसे पृथक् हो। वह प्रत्येक के बाहर भीतर मौजूद हैं। न भीतर होने से हम भीतर से किसी काम को कर सकते हैं, न बाहर हर जगह मौजूद होने से उनके राज्य

से भागकर बाहर कहीं जा सकते हैं। जब तक हमको उसका ज्ञान नहीं तब ही तक हम पाप-कर्म करते हैं। जहाँ उसका ज्ञान हुआ, पाप करने की शक्ति नहीं रहती। क्योंकि जीव स्वभाव से भय युक्त हैं। जहाँ पाप का विचार आता है तुरन्त अन्दर से भय, संदेह और लज्जा पैदा हो जाती है। पहले जो आदमी एक पुलिस के सिपाही को उपस्थिति में पाप करने से डरता है, यदि उसको दंड देनेवाले के सामने खड़ा होना मालूम हो जावे, तो किस प्रकार पाप कर सकता है। यद्यपि मनुष्य जानता है कि पुलिस के सिपाही को घूस से प्रसन्न करके वह बच सकता है। झूठी साक्षी द्वारा बचने का विचार हो सकता है। वकीलों के द्वारा क़ानून के धोके में बचने की आशा हो सकती है। जब इतनी आशाओं पर भी वह पुलिस की उपस्थिति में पाप से बच सकता हो, तो जिस अवस्था में उसको पूर्ण विश्वास हो कि जिस परमात्मा ने दंड दिया है, जिसको घूस देकर प्रसन्न नहीं कर सकता, जहाँ मिथ्या साक्षी से काम नहीं चल सकता, जहाँ बुद्धिमान वकील किसी क़ानूनी धारा से बचा नहीं सकता। फिर मनुष्य किस प्रकार वहाँ पाप कर सकता है। जब पाप न करे तो शोक और भय किस प्रकार हो सकता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष,
आत्मा वृणुते तनूंस्वाम् ॥२३।५२॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (अयम्) यह। (आत्मा) सारे शरीर में व्यापक परमात्मा। (प्रवचनेन) बहुत सा उपदेश करने या विचार करने से। (लभ्यः) मिल सकता है। (न) नहीं। (मेधया) बुद्धि से मिलता है। (न) नहीं।

(बहुना) बहुत सुनने से मालूम होता है। (यम्) जिसको। (एव) ही। (एषः) यह आत्मा। (वृणुते) प्रकाश करता है। (तेन) उससे। (लभ्यः) मालूम होता है। (तस्य) उसके लिये। (एषा) यह। (आत्मा) यह परमात्मा। (वृणुते) प्रकाश करता है। (तनूम्) स्वरूप को। (स्वाम्) अपने।

(अर्थ) यह परमात्मा बहुत सा व्याख्यान करने और व्यवस्था करने से नहीं मिल सकता और न वह बुद्धि से जाना जाता है और न बहुत से ग्रन्थों को पढ़ने अर्थात् गुरु से सुनने से जाना जाता है, जिसको अधिकारी जानकर उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश करता है, उसी से ज्ञेय हो सकता है। अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र और ब्रह्म के आधार पर अपने गुरु के उपदेश से ही ब्रह्मज्ञान होता है। क्योंकि जो मार्ग पर पहुँच चुका है वह उस मार्ग के लिये आप कहलाता है। यदि उसके कहने पर उसी के अनुकूल कर्म किया जावे तो परमात्मा का प्रकाश प्रकट होता है। जब तक परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकाश न करे तब तक कोई उसको देख नहीं सकता। जैसे जब तक सूर्य्य अपने स्वरूप का प्रकाश नहीं करता, तब तक आँख उसको किसी दूसरे की सहायता से देख नहीं सकती। ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा को परमात्मा की सहायता से ही जान सकता है, अन्य की सहायता से जानना असम्भव है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो, नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि, प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।
॥ २४ । ५३ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (अविरतः) ढाँका हुआ। (दुश्चरितात्) बुरे कर्मों से। (न) नहीं। (अशान्तः) जिसके मन में शान्ति न हो। (न) नहीं। (असमाहितः)

जिसकी शंकाओं का समाधान न हुआ हो। (अशान्तमानसः) जिसका मन चंचल हो। (वा) और। (अपि) भी। (प्रज्ञानेन) वेद विद्या और सत्य ज्ञान से। (एनम्) परमात्मा को। (आप्नुयात्) प्राप्त कर सकता है।

(अर्थ) जिसका मन दुराचारों से ढँक रहा हो, अर्थात् प्रज्ञान का प्रतिबिम्ब ठीक न पड़ता हो और जिसमें शान्ति न हो अर्थात् क्लेश चिन्ता आदि से अशान्ति हो और जिसको निश्चय न हो, बात-बात में शंका उत्पन्न होती हो और शंका के कारण आगे की ओर एक पग चलना भी कठिन हो। मन ऐसा चंचल हो कि एक सेकन्ड भी स्थिर न रह सकता हो। ऐसा आदमी बहुत कहने सुनने से तथा वेद-विद्या और सत्य-ज्ञान से भी उस परमात्मा को नहीं जान सकता। परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण शुद्ध और निर्मल होना चाहिये। कोई भीरु, स्वार्थी, मिथ्यावादी, दुराचारी पुरुष परमात्मा के जानने का अधिकारी किसी दशा में नहीं हो सकता। और न परमात्मा अहंकारियों के दृष्टि आ सकते हैं। जिसके मन में श्रद्धा और निश्चय नहीं, वह किसी दशा में कर्मकाण्डी नहीं हो सकता। यदि किसान को संदेह हो कि खेत बीज बोने के योग्य है या नहीं, तो वह उस खेत में कभी बीज नहीं बोता। अतः कोई मनुष्य शंका के होते हुए कर्म नहीं करता। इस कारण जब तक ब्रह्मज्ञान में जो बाधायें हैं वह दूर न हो जावें। तब तक कोई मनुष्य ब्रह्म को नहीं जान सकता। ब्रह्म के अति निकट होने से पाँच प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता है। प्रथम दर्पण हो, दूसरे प्रकाश हो, तीसरे दर्पण शुद्ध और निर्मल हो, चौथे दर्पण स्थिर हो, और पंचम बीच में कोई परदा न हो। जब पाँचों आश्रमों को नियम पूर्वक पूरा करने से विघ्न दूर हो जावें, तब ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।२५।५४

(शब्दार्थ) (यस्य) जिस परमात्मा का । (ब्रह्म) ब्राह्मण अर्थात् विद्या । (क्षत्रं) क्षत्रिय अर्थात् बल । (उभे) दोनों अर्थात् विद्या और बल । (भवतः) होते हैं । (ओदनम्) चावल पके हुए । (मृत्युः) मौत अर्थात् शरीर से जीव का वियोग । (यस्य) जिसकी । (उपसेचनम्) चावल में डालने योग्य घी की भाँति से । (कः) कौन । (इत्था वेद) इस प्रकार जानता है । (यत्र) जिस स्थान में । (सः) वह है ।

(अर्थ) जो परमात्मा प्रलय के समय बल विद्या अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मणों को अपने में प्रवेश कर लेता है, केवल ब्राह्मण उसके दिये हुए ज्ञान वेद से बड़ाई पाते हैं। जब वेद उसका ज्ञान है, तो उसको उसी के भीतर प्रवेश होना चाहिये। जब वेद परमात्मा में मिल गया तो ब्राह्मण कैसे हो सकते ? दूसरे क्षत्रिय हैं उनमें जो बल है वह भी परमात्मा के दिये हुए बल से होता है। जब परमात्मा ने अपने बल को अपने से बाहर नहीं जाने दिया तो क्षत्रिय कैसे हो सकते। यह कैसे परमात्मा में प्रवेश करते ? इनके प्रवेश होने का साधन मौत है। मौत प्रत्येक क्षत्रिय और ब्राह्मण को नाश करके उन शक्तियों अर्थात् विद्या और बल को परमात्मा में प्रवेश कर देती है। जिस स्थान में वह परमात्मा है, कौन जान सकता है कि वह कहाँ है। क्योंकि कहाँ का शब्द एक देशी के वास्ते प्रयोग होता है। परमात्मा अनन्त हैं उनके लिए इस शब्द का प्रयोग हो नहीं सकता। परमात्मा के सर्वत्र होने से यह जानना कि वह कहाँ है बहुत ही कठिन है ।

इति द्वितीय वल्ली ।

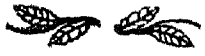

अथ तृतीय वल्ली

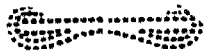

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके,
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति,
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१।५५॥

(शब्दार्थ) (ऋतम्) जो वस्तु जैसी हो उसको वैसा ही जानना अर्थात् तत्वज्ञान । (पिबन्तौ) जीव और परमात्मा भोगते हुए । (सुकृतस्य) अपने किये का फल अर्थात् जीवात्मा अपने किये के फल को भोगता है, ब्रह्म फल देता है । (लोके) इस शरीर में । (गुहाम्) बुद्धि के भीतर । (प्रविष्टौ) प्रवेश करके । (परमे) सब से उत्तम । (परार्द्धे) हृदय के आकाश में । (छायातपौ) छाया और धूप की भाँति विविधि जैसे जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ है, इसलिये ब्रह्म को धूप और जीव को छाया कह सकते हैं । (ब्रह्मविदः) ब्रह्म अर्थात् वेद को जाननेवाले । (वदन्ति) बताते हैं । (पञ्चाग्नयः) जो पाँच प्रकार की अग्नि अर्थात प्रत्येक इन्द्रिय के विषय से अलग है अर्थात् वानप्रस्थ है और । (ये च त्रिणाचिकेताः) जिन गृहस्थों ने तीन प्रकार की अग्नि का विचार किया है ।

(अर्थ) गृहस्थी और वानप्रस्थी मनुष्य जिन्होंने पाँच इन्द्रियों के आधीन करने का यत्न किया है अथवा कर्म-काण्ड के वास्ते तीन प्रकार की अग्नि का संग्रह किया है । वह कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों साथ-साथ रहते हैं । जो अपने कर्मों का फल भोगनेवाले जीव में जब बुद्धि में प्रविष्ट होकर वृत्तियों को भीतर ले जाता है अर्थात् बाहर के विचारों से बेसुध हो जाता है, समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति की दशा में

शरीर में सब से उत्तम स्थान जो हृदय के भीतर आकाश है उस स्थान में ब्रह्म को जानते हैं। जीव यदि छाया है, तो ब्रह्म धूप है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव-ब्रह्म में किसी प्रकार की दूरी नहीं। ब्रह्म की खोज में किसी दूर के स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं, केवल मन की वृत्तियों को बाहर की प्रकृति से हटाकर भीतर ले जाने की आवश्यकता है। इस दृश्य के बाहर आने अर्थात् प्रकृति की उपासना से दुःख और भीतर जाने अर्थात् सुषुप्ति की दशा का दृश्य दिखाकर परमात्मा हमको नित्य उपदेश करते हैं जो प्रत्यक्षादर्श है। जब जागो तो हर प्रकार का दुःख सामने है, जब सो जाओ तो सब दुःख भाग जाते हैं। इसके देखने से भी यदि मनुष्य न समझे, तो इससे अधिक क्या मूर्खता हो सकती है।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि
॥२।५६॥

(शब्दार्थ) (यः) जो जीवात्मा। (सेतु) पुल। (ईजानानां) यज्ञ करनेवालों का। (अक्षरम्) नाश रहित। (ब्रह्म) परमात्मा। (यत्) जो। (परम्) सब से सूक्ष्म और बड़ा है। (अभयं) निर्भय जो किनारा है। (तितीर्षताम्) जिसे तरने की इच्छा वाले विद्वान् ही। (पारम्) परले पार। (नाचिकेतम्) ज्ञान स्वरूप जीवात्मा। (शकेमहि) हम जान सकें।

(अर्थ) जो परमात्मा यज्ञ करनेवाले प्राणियों को इस सागर से तारने के वास्ते सेतु रूप है, जो नाश रहित सूक्ष्म और सब से बड़ा है, जो हम को इस भवसागर से तारने में समर्थ है, जो चेतन स्वरूप है। जो मनुष्य उस सर्वज्ञ के नियम अर्थात् वेद-विरुद्ध काम करता है वह कभी सुख नहीं पा सकता। हम संपूर्ण संसार को धोका दे सकते हैं, परन्तु परमात्मा को

कोई धोका नहीं दे सकता। क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु में व्यापक होने से प्रत्येक काम को स्वयम् प्रत्यक्ष करता है। जिसको किसी प्रकार के साक्षी के होने की आवश्यकता नहीं जब उसने स्वयम् देख लिया तो और साक्षियों से क्या लाभ। इस कारण भव के सागर से तरने के लिये परमात्मा की आज्ञानुकूल दूसरों को सुख पहुँचाने वाले यज्ञ करने चाहिए।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरंरथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च।३।५७।

(शब्दार्थ) (आत्मानं) आत्मा को अर्थात् अपने को। (रथिनम्) गाड़ी का सवार। (विद्धि) विचार करो। (शरीरम्) शरीर को। (रथम्) सवारी अर्थात् गाड़ी। (एव) निश्चय। (तु) समझो। (बुद्धिं तु) बुद्धि को। (सारथिं) कोचवान् अर्थात् गाड़ी चलानेवाला। (विद्धि) विचार करो। (मनः) मन को। (प्रग्रहम्) बागें अर्थात् लगाम समझो। (एव) भी। (च) और।

(अर्थ) यह शरीर एक गाड़ी है। जिस पर बैठकर जीवात्मा रूपी सवार अपने नियत मार्ग ओ३म् की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। परन्तु गाड़ी बिना कोचवान् अर्थात् ड्रायवर के चल नहीं सकती। इसी कारण इस शरीर रूपी गाड़ी का कोचवान् बुद्धि है। जिस गाड़ी का कोचवान् चतुर हो वह गाड़ी इष्ट मार्ग पर पहुँच जाती है। जिस गाड़ी का कोचवान् शराबी हो वह गाड़ी गढ़ों में जा गिरती है। ऐसे ही जिस मनुष्य को मेधा बुद्धि है, वह तो मनुष्य जन्म की बाट को पूरा कर सकता है। जिसकी बुद्धि बुरी है वह बार-बार नीच योनियों में जन्म लेता है और अविद्या में फँसकर बुराई को भलाई विचार करता हुआ इस जन्म को नष्ट कर देता है। परन्तु कोचवान् को गाड़ी के घोड़ों या कल के पुरजों को आधीन में रखने के लिये घोड़े

के मुँह में लगाम की आवश्यकता होती है । इसी प्रकार इस शरीर को गाड़ी बुद्धि को जो इनके हाथ में बागें हैं यदि मन बुद्धि के वश में रहता है तो सम्पूर्ण काम सत्य होते हैं, यदि मन बिगड़ जाता है और बुद्धि की आधीनता से निकल जाता है, तो सम्पूर्ण दोष आ घेरते हैं। अतः इस चित्र में यह प्रकट कर दिया है कि मनुष्य का मन और बुद्धि ठीक हो तभी वह सफल हो सकता है। यदि मन में दोष हैं अर्थात् मन मैला है या चंचल है तो गाड़ी किसी दशा में भी नियत मार्ग पर नहीं जा सकती। यदि बुद्धि कोचवान् के सामने विद्या की रोशनी अर्थात् प्रकाश नहीं तो इस गाड़ी को निकृष्ट मार्ग में डालकर नष्ट कर देता है।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः
॥ ४ । ५८ ॥

(शब्दार्थ) (इन्द्रियाणि) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। (हयानि) घोड़े। (आहुः) कहलाते हैं। (विषयान्) इन्द्रियों के जो विषय हैं। (तेषु) उनमें। (गोचरान्) मार्ग जिसमें यह रथ घोड़ों से चलता है। (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्) आत्मा जब इन्द्रियों और मन से मिलता है अर्थात् उस योग को। (भोक्ता) भोगनेवाला अर्थात् भोगता है। (इति) यह। (आहुः) कहा है। (मनीषिणः) मन को शुद्ध करके आधीन रखनेवाले विद्वानों ने।

(अर्थ) जब शरीर को गाड़ी और बुद्धि को कोचवान् और मन को बाग बनाया, तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि वह घोड़े कौन से हैं जिनको चलाने के लिये बागों और कोचवान् की आवश्यकता है। उसके उत्तर में कहते हैं कि इन्द्रियाँ इस प्रकार की गाड़ी के घोड़े हैं अर्थात् ५ ज्ञान इन्द्रियाँ आँख, नाक, कान, रसना ;

और त्वचा ; तथा ५ कर्म इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पाँव, जिह्वा, गुदा, लिङ्ग, इन्द्रियाँ ; यह दस इन्द्रियाँ जीव को शरीर के साथ ज्ञान और कर्म-मार्ग में ले जानेवाली हैं । जितनी इन्द्रियों के विषय हैं वही इस गाड़ी के मार्ग हैं । जब आत्मा इन्द्रिय और मन से योग करता है तो उसको विद्वान् मनुष्य भोक्ता कहते हैं। यदि मनुष्य इस अलंकार को ठीक समझ जावे तो वह संसार में धोका नहीं खा सकता । जब मालूम हो गया कि यह शरीर गाड़ी है और आत्मा गाड़ी में बैठकर मार्ग की ओर जानेवाला है। तो जो मनुष्य यह भी नहीं जानता कि इस गाड़ी में बैठकर किस मार्ग पर जाना है तो उसको कौन बुद्धिमान् कह सकता है ? यदि गाड़ी मार्ग की ओर चलती है तो उन्नति, यदि मार्ग के विरुद्ध चलती है तो मार्ग के दूर हो जाने से अवनति कहलाती है । जिसको मार्ग का ज्ञान नहीं उसे उन्नति या अवनति करने का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? यह भी प्रत्येक मन जानता है कि गाड़ी को अपना बताने वाले दो होते हैं एक साईस दूसरा रईस। एक अमीर का पाँच गाड़ियाँ हों तो प्रत्येक गाड़ी का साईस अपनी गाड़ी को अपनी बतावेगा, और स्वामी अपनी कहता है। यदि साईस से कहा जावे कि तुम्हारा गाड़ी से क्या सम्बन्ध है, तुम अपनी गाडी क्यों कहते हो । वह कहता है कि मेरा गाड़ी से यह सम्बन्ध है कि घोड़े भले प्रकार चराए जावें, गाड़ी खूब धोई जावे। निदान शरीर को गाड़ी के साईसों से प्रश्न किया जावे कि तुम्हारे "जीवन का उद्देश क्या है ? तो वह स्पष्ट उत्तर देंगे कि खावो पियो आनन्द उड़ाओ आकबत की ख़बर खुदा जाने" अब तो आराम से गुज़रती है, (अर्थात् ऐसे मनुष्यों का उद्देश यह होता है । कि जो कुछ आनन्द है वह सांसारिक पदार्थों में है, आगे कुछ भी नहीं) इन्द्रियों के विषय भले प्रकार भोगो अर्थात् घोड़े खूब चराओ और शरीर को खूब सजाओ अर्थात् गाड़ी को खूब धोओ। वह अपने आपको गाड़ी के लिये विचार करते हैं । जो मनुष्य रात

दिन शरीर के लिये प्रयत्न करते हैं वह इस गाड़ी के साईस हैं। यदि स्वामी से प्रश्न करें कि तुम्हारा गाड़ी से क्या सम्बन्ध है? वह कहता है कि मुझे गाड़ी पर बैठकर कचेहरी जाना है, गाँव जाना है, वह गाड़ी को अपने लिये ख्याल करता है। जो आत्मा शरीर को अपने मार्ग के लिये विचार करते हैं वह मालिक हैं। और जो अपने शरीर के लिए विचार करते हैं वह साईस हैं। जो देश अधिक साईस रखता है, वह गिरा हुआ देश है। जिस देश में स्वामी अधिक हैं, वह उत्तम देश है।

प्रश्न—आज कल तो सभ्य देश वही कहलाता है जिसमें खाओ पियो आनन्द उड़ाओ इस विचार के मनुष्य अधिक हों।

उत्तर—आज कल मनुष्य अधिकतर अज्ञानी हैं, न वह अपनी सत्ता से जानकार हैं और न वह अपने उद्देश्य मार्ग का ही ज्ञान रखते हैं। केवल पशुओं की भाँति वर्तमान प्रत्यक्ष जगत् को जानते हैं। जिस प्रकार पंजाब में नाई का नाम राजा विवाह के स्वार्थियों ने रख दिया, ऐसे ही मूर्खों ने उन देश का नाम सभ्य देश रख दिया। वास्तव में वह साईसों का देश है।

प्रश्न—साईस कभी स्वामी पर अधिकार नहीं ला सकता। हम देखते हैं कि ऐसे देश संसार में अधिकार रखते हुए दृष्टि पड़ते हैं।

उत्तर—साईस फिर आदमी है जो घोड़ों पर प्रभुत्व रखता है। अतः वह उन मनुष्यों पर जो धर्म से शून्य होने से पशुओं की भाँति हैं, अधिकार रखते हैं। इस समय ऐसा कोई देश नहीं जिसमें स्वामी बसते हों। हर देश में थोड़े मनुष्य ऐसे हैं कि जो शरीर के तत्वज्ञाता हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।५।५९।

(शब्दार्थ) (यस्तु) जो मनुष्य। (अविज्ञानवान्) जो

ज्ञान से रहित मनुष्य सर्वदा इन्द्रियों के विषयों में फंसा (भवति) होता है। (अयुक्तेन) जिसका मन बुद्धि के अनुकूल काम नहीं करता। (मनसा) मन से। (सदा) सदा। (तस्य) उसकी। (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ। (अवश्यानि) बेकाबू अर्थात् बुद्धि की शक्ति से बाहर। (दुष्टाश्वाः) बुरे घोड़ों की भाँति। (सारथेः) जैसे बुरे घोड़े कोचवान् के आधीन न रहकर गाड़ी को सड़क से नीचे गिरा देते हैं, ऐसे ही स्वाधीन इन्द्रियाँ मनुष्य की बुद्धि को बिगाड़ कर उस नष्ट कर देती हैं।

(अर्थ) जो मनुष्य अज्ञानी होता है और जिसका मन सदा बुद्धि के हाथ से बाहर रहता है, कभी मन स्थिर नहीं होता, सर्वदा अनियमित चलता है। जैसे दुष्ट घोड़े बाग के ढीले हो जाने से स्वामी को गाड़ी से नीचे गिरा देते हैं, वह नियत मार्ग पर नहीं पहुँचता। इसी प्रकार जिसका मन बुद्धि के आधीन नहीं, वह मन सदा अनियमित काम करता है। और जिसका मन अनियमित चले, उसकी इन्द्रियाँ कभी ठीक मार्ग पर न चलकर उसको विषयों के गढ़े में गिरा देती हैं। इसलिये सब से आवश्यकीय काम कोचवान् अर्थात् बुद्धि को ठीक रखना है। यदि ठीक न हो तो कितना ही परिश्रम क्यों न करें मार्ग पर नहीं पहुँच सकते। यदि बुद्धि ठीक हो, तो थोड़े परिश्रम से ही कार्य सिद्ध हो सकता है और दूषित बुद्धि से कोई काम ठीक नहीं हो सकता है।

प्रश्न—क्या सब की बुद्धि एक सी है या अलग अलग भाँति-भाँति की ?

उत्तर—बुद्धि दो प्रकार की है एक साधारण बुद्धि, दूसरी मेधाबुद्धि। मेधाबुद्धि तो सब मनुष्यों की एक है और साधारण में अन्तर है।

प्रश्न—साधारण बुद्धि में भेद का क्या कारण है ?

उत्तर—मन का तीन प्रकार का होना। सतोगुणी मन से जो ज्ञान होगा वह और भाँति का होगा। और रजोगुणी मन

से जो ज्ञान होगा वह और प्रकार का होगा। तमोगुणी मन से जो ज्ञान होगा वह और ही प्रकार का होगा।

प्रश्न—बुद्धि में जो गुणों का भेद है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—पूर्व जन्म के संस्कार और संगति। जिस प्रकार के पहले सस्कार होंगे वैसी संगति अब अच्छी मालूम होगी, जैसी संगति करेगा वैसा ही काम होगा।

प्रश्न—बुद्धि को किस प्रकार ठीक रख सकते हैं ?

उत्तर—बुद्धि आत्मिक चक्षु है। जिसको सूर्य अर्थात् वेद से सहायता मिल सकती है। यदि सूर्य सामने हो तो आँख को रस्सी साँप नहीं मालूम होती और इस भाँति के न होने से वह उस साँप से भय नहीं खाती। यदि थोड़ा प्रकाश हो तो भ्रम होकर अविद्या उत्पन्न हो सकती है जो सम्पूर्ण दोषों का बीज है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः
॥ ६ । ६० ॥

(शब्दार्थ) (यस्तु) जो मनुष्य। (विज्ञानवान्) ठीक ज्ञानवाला। (भवति) होता है। (युक्तेन) साथ मिले हुए। (मनसा) मन से। (सदा) सदा। (तस्य) उसके। (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ। (वश्यानि) वश में होते हैं। (सदश्वा इव) उत्तम घोड़ों की भाँति जैसे उत्तम घोड़े गाड़ी को मार्ग पर पहुँचा देते हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान् की इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। (सारथेः) कोचवान् के।

(अर्थ) जिस मनुष्य का मन बुद्धि के साथ युक्त हो, सदा प्रत्येक काम विचार कर करता हो, कोई काम भी मूर्खता का न करता हो उसकी इन्द्रियाँ वश में रहकर उत्तम घोड़ों की भाँति

मार्ग पर पहुँचाने वाली होती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ उसको गिरानेवाली नहीं होतीं, किंतु मार्ग पर पहुँचाने वाली होती हैं। इस वाक्य से परिणाम निकलता है कि मन बुद्धि के कहने पर चले और इन्द्रियाँ मन के वश में होती ही हैं तो इन्द्रियाँ मित्र का काम देती हैं, यदि इन्द्रियाँ बे-वश हो जावें तो वही इन्द्रियाँ मनुष्य की भयानक शत्रु होजाती हैं, मन को बिना विद्या के बुद्धि वश में नहीं रख सकती। क्योंकि आँख का प्रकाश के बिना देखना कठिन है, बिना मार्ग देखे, बागों को ठीक रखना असम्भव है और बिना बागों के ठीक रहे घोड़े नियम पूर्वक नहीं चल सकते। निदान मनुष्य के शत्रु उसके साथ ही हैं। इन शत्रुओं से बचने के लिये विज्ञान अर्थात् विद्या ही एक हथियार है जो मनुष्य विद्या का ओर से वंचित हैं, वह संतान के लिये कितना ही धन क्यों न छोड़ जावें, वह संतान के शत्रु या मूर्ख मित्र कहला सकते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति
॥७।६१॥

(शब्दार्थ) (यस्तु) जो मनुष्य। (अविज्ञानवान्) विद्या से और शिक्षा से पृथक होता है। (भवति) होता है। (अमनस्कः) जिसका मन ज्ञान से शून्य हो अर्थात् विचार-शक्ति से रहित। (सदा) सदा। (अशुचिः) मैला हो। (न) नहीं। (स) वह मनुष्य। (तत्) उस। (पदम्) पदवी का। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (संसारम्) बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में। (च) और। (अधिगच्छति) प्राप्त होता है।

(अर्थ) जिस मनुष्य को वेदों की शिक्षा प्राप्त नहीं होती, जिसके मन में विचार शक्ति नहीं, जो प्रत्येक काम विना विचारे अज्ञानता से करता है, जिसका मन सदा दूसरे के धन, स्त्री

और अन्य पदार्थों के लेने के विचार से मैला रहता है और जिस मनुष्य को आत्मा और शरीर का ज्ञान नहीं, वह सदा ही अपवित्र रहता है, वह किसी दशा में भी आत्मज्ञान की बाट को प्राप्त नहीं कर सकता, सदा जन्म लेता और मरता रहता है।

प्रश्न—क्या कारण है कि अज्ञानी मनुष्य बार बार जन्म लेता है।

उत्तर—जीव के अतिरिक्त दो पदार्थ और हैं। एक प्रकृति और दूसरे परमात्मा। प्रकृति सत् है, जीवात्मा सत्-चित है, परमात्मा सत्-चित-आनन्द (सच्चिदानन्द) है। प्रकृति के सम्बन्ध से जीव को बन्धन होता है, क्योंकि प्रकृति स्वतंत्र नहीं और जीव से कम गुणवाली है और कम गुणवाले की संगति से सदा हानि होती है। परमात्मा सच्चिदानन्द है, जिसके कारण से जीव का लाभ होता है। जब दो प्रकार की वस्तुएँ मौजूद हों। एक लाभ की, दूसरी हानि कारक, तो उस दशा में ज्ञान के विना कैसे काम चल सकता है। जिस बाज़ार में उत्तम सोना ही बिकता हो, वहाँ तो बिना जाने भी जीव मोल ले सकता है। यदि सोना और मुलम्मा दोनो चीजें बिकती हों, तो मनुष्य को धोखा होना सम्भव है। इस कारण आनन्द के चाहनेवालों को वेदों की शिक्षा का होना आवश्यक है। विना शिक्षा के आनन्द का मार्ग नहीं मिल सकता।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते
॥ ८। ६२ ॥

(शब्दार्थ) (यस्तु) जो मनुष्य। (विज्ञानवान्) वेदों की शिक्षा से युक्त। (भवति) होता है, जिसका प्रत्येक काम विचार के अनुकूल होता है, जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को। (सदा) सदा। (शुचि) शुद्ध रखता है। (स) वह मनुष्य।

(तत्) उस । (पदम्) पदवी को । (आप्नोति) प्राप्त करता है । (यस्मात्) जिससे । (भूयः) अधिक बार । (न) नहीं । (जायते) उत्पन्न होता ।

(अर्थ) जो मनुष्य वेदों की शिक्षा से ज्ञान प्राप्त करके मन, इन्द्रिय और शरीर को सदा शुद्ध रखता है, शरीर को पानी से शुद्ध रखता है, मन को सत्य बोलने और मानने से शुद्ध रखता है, विद्या, तप से जीवात्मा को शुद्ध रखता है, और बुद्धि को वेद से शुद्ध रखता है, और प्रत्येक काम धर्म के अनुकूल अर्थात् सत्यासत्य को विचारकर करता है, वह ऐसी पदवी को प्राप्त करता है कि जहाँ बहुत देर तक दुखारो उत्पन्न नहीं होता, बहुत से मनुष्य इसके अर्थ यह लेते हैं कि वह फिर पैदा नहीं होता, परंतु ऐसा मानना ठीक नहीं । क्योंकि ऐसी दशा असम्भव है, जिसका एक किनारा हो । अर्थात् आरम्भ हो और अन्त न हो ।

प्रश्न—जब कि सम्पूर्ण मत ऐसी मुक्ति मानते हैं, तो वह असम्भव कैसे हो सकती है ।

उत्तर—किसी के मानने से किसी वस्तु की तत्त्ववस्था में तबदीली नहीं हो सकती, किंतु लक्षण बदलने से वह तबदीली हो सकती है । यदि इस प्रकार की मुक्ति सम्भव हो जावे तो धन्यवाद के योग्य है । परन्तु उसको सम्भव कोई भी विद्वान नहीं कर सकता । क्योंकि उसके लिये कोई उदाहरण नहीं जिससे अनुमान हो सके और प्रत्यक्ष जब जीव ही नहीं होता, तो मुक्ति कैसे प्रत्यक्ष हो सकती है ।

प्रश्न—यह कोई नियम नहीं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से ही कोई पक्ष सिद्ध हो क्योंकि शेष प्रमाण भी तो हैं ।

उत्तर—शब्द प्रमाण को आप्त-वाक्य सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष और अनुमान की आवश्यकता होती है । यदि आप्त-वाक्य सिद्ध न हो, तो शब्द प्रमाण के लक्षणों में नहीं आ सकता है ।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
॥ ६ । ६३ ॥

(शब्दार्थ) (विज्ञानसारथिः) वेद के ज्ञान से युक्त बुद्धि जिस मनुष्य का कोचवान है और (मनः प्रग्रहवान्नरः) जिस मनुष्य ने मन की बागों का बल से पकड़ा है, तो न कोचवान बुरा है और न बाग ढीली है ।(सः) वह । (अध्वनः) मार्ग से । (परम्) समाप्त होने के पश्चात् । (आप्नोति) प्राप्त करता है । (तत्) उस । (विष्णोः) सर्व व्यापक परमात्मा के । (परमम्) सब से सूक्ष्म आनन्द स्वरूप परमात्मा के । (पदम्) पद को अर्थात् उसकी ब्रह्म-अवस्था प्राप्त हो जाती है, सत्-चित् तो जीव पहले ही से है और आनन्द परमात्मा से मिल जाता है जिससे वह आनन्द को भोगता है ।

(अर्थ) जो मनुष्य धारणावाली बुद्धि को अपना सारथि अर्थात् कोचवान बना लेता है । बुद्धि के विरुद्ध कोई काम ही नहीं करता । सारे जगत को अनित्य और आत्मा को नित्य जानता है और सदा मन को आत्म विचार में लगाता है । इंद्रियाँ विषयों की ओर बड़े वेग से जाती हैं, वह मन की बागों की बल से खींचकर उनको विषयों से रोकता है और कभी भी मन को ढीला नहीं होने देता है । जिस इंद्रिय के विषय में मन जाता है वहीं उसको रोककर आत्मा की ओर लगाता है । आत्मा निराकार और मन भौतिक है । इस कारण मन परमात्मा की ओर कठिनता से लगता है । जो मनुष्य बुद्धि से मन को वश में करके इंद्रियों के विषयों में लगने नहीं देता वह उस परमात्मा के आनन्द पद को प्राप्त करता है । अर्थात् सत्-चित्त तो जीवन पहले ही है, परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करके सच्चिदानन्द हो जाता है ।

प्रश्न—क्या उस अवस्था में जीव-ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता ?

उत्तर—जीव उस अवस्था में जीव ही रहता है, क्योंकि उसकी अल्पज्ञता जो स्वाभाविक गुण है, वह दूर नहीं हो सकती।

प्रश्न—क्या कारण है कि जीव की अल्पज्ञता मुक्ति में दूर नहीं होती।

उत्तर—जीव एक देशी है और एक देशी के गुण अनन्त किसी प्रकार नहीं हो सकते। इस कारण जैसे सूर्य भूमि से लाखों गुणा बड़ा है, तो भी एक देशी होने से उसकी शक्ति अनंत न होने से रात्रि हो जाती है। जिस प्रकार लोहा गरम करने से लाल हो जाता है, उसमें आग के परमाणु मालूम होने लगते हैं। परन्तु गुरुत्व जो उसका अपना गुण है वह गुरुत्व से पृथक् आग का संग होने पर भी दूर नहीं हो सकता। गरम लोहा तोलने से भारी मालूम होता है, ऐसे ही ब्रह्म-संग है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।
१०।६४।

(शब्दार्थ) (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से। (परा) सूक्ष्म। (हि) निश्चय करके अर्थ में। (अर्थः) इन्द्रियों का विषय। (अर्थेभ्यः) अनुभव से। (परम्) सूक्ष्म। (मनः) मन है अर्थात् इन्द्रियों से विषय और उससे मन सूक्ष्म है। (मनसः) मन से। (च) और। (परा) सूक्ष्म। (बुद्धिः) विचार-शक्ति है। (बुद्धेः) बुद्धि से। (आत्मा) आत्मा। (महान्) महत्। (परा) सूक्ष्म है।

(अर्थ) इन्द्रियों से सूक्ष्म उसके विषय अर्थात् रूप, रस, गंध, प्रभृति हैं। क्योंकि इन्द्रियों की ओर चलने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता है। इस कारण जो सूक्ष्म अधिक है, उसी को जिससे वह सूक्ष्म है; परे बताया है। सदा कार्य से

कारण सूक्ष्म होता है, इसलिये विषयों से सूक्ष्म मन है। और मन दो प्रकार का है एक स्वाभाविक मन, जिसको मन-शक्ति भी कहते हैं, दूसरे भौतिक मन जो मनकरण कहलाता है, वह इस मन से बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धि से सूक्ष्म जगत्।

प्रश्न—इस गणना को देखने से तो अन्तःकरण चार मालूम होते हैं, साँख्य की प्रक्रिया जो टीकाकारों ने की है, उससे तीन और सूत्रों से दो ही कारण मालूम होते हैं।

उत्तर—साँख्य-सूत्र ने तो मन और अहंकार दो अन्तःकरण स्वीकार किये और मन की तीन वृत्तियाँ अर्थात् चित्त-वृत्ति, मन-वृत्ति और बुद्धि-वृत्ति के भावार्थ से प्रकट कर दिया है। और वेदान्तवालों ने चारों करण स्वीकार किये, झगड़ा कुछ नहीं।

प्रश्न—मन-शक्ति और करण दो प्रकार के हैं शास्त्र से प्रकट नहीं, नई कल्पना है।

उत्तर—नहीं शास्त्र की व्यवस्था करने से दो प्रकार के मन का ज्ञान होता है, वैशेषिक शास्त्र के कर्ता महर्षि कणाद ने मन की शक्ति का विचार किया और मन को नित्य प्रगट किया। और महर्षि कपिल ने मनकरण का विचार किया और मन को अनित्य प्रकट किया। और छांदोग्योपनिषद् में भी मन-करण का विचार किया, उसने मन को अनित्य प्रकट किया और वेद ने मन-शक्ति को नित्य प्रकट किया। ऐसे मुक्ति में मन रहता है या नहीं। इस पर विचार किया। तो इस पर पाराशरजी ने मनकरण को विचारा, तो मुक्ति में करण का अभाव मालूम हुआ, उन्होंने बताया कि मुक्ति में मन नहीं रहता। महर्षि जैमिनि ने मन-शक्ति को विचारा, तो मालूम हुआ कि मुक्ति में मन-शक्ति रहती है। उन्होंने मुक्ति में मन का होना प्रकट किया। व्यासजी ने झगड़े को फैसल कर दिया कि दोनों ठीक हैं। मनकरण अनित्य है, इसलिये मुक्ति में नहीं। मन-शक्ति नित्य है जो मुक्ति में रहती है। अतः शास्त्रों से दो प्रकार का

मन प्रकट होता है। यदि एक ही बारे में इस क़दर विपरीत सम्मतियाँ होतीं, तो सारे शास्त्र प्रमाण के पद से गिर जाते।

प्रश्न—यह क्यों न स्वीकार किया जावे कि ऋषियों की सम्मति में विरोध है जैसा बहुत से यूरोपियन विद्वान् भी स्वीकर करते हैं।

उत्तर—इस अवस्था में उनका ऋषि कहना व्यर्थ है, क्योंकि हिन्दी में कहावत प्रसिद्ध है कि 'सौ स्याने एक मत मूर्खों शापो अपनी' अर्थात् सौ बुद्धिमानों की एक सम्मति और मूर्खों की पृथक्-पृथक्। सत्य में एक, झूठ में विरोध; ऋषि वेदों के विद्वान् होते हैं, इसलिये उनकी सम्मति में विरोध नहीं होता।

प्रश्न—ऋषि भी तो मनुष्य हैं, उनकी सम्मति में भूल हो सकती है। फिर अकारण खैंच तान क्यों की जाती है?

उत्तर—जो सदा सत्य बोलता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है और बिना स्थिर बुद्धि के कोई ऋषि कहला नहीं सकता। यह सिद्धान्त कि मनुष्य-सम्मति में अशुद्धी का होना सम्भव है। ईश्वर का बताया है या मनुष्यों ने अनुभव से कहा है। वेद ने इसका निर्णय कर दिया है कि देवता अर्थात् विद्वान् सत्य ही बोलते हैं और जो सत्य और झूठ मिलावे वह मनुष्य कहलाता है। अतः ऋषिदेव में उनके कथन में झूठ का सम्भव नहीं।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
११। ६५॥

(शब्दार्थ) (महतः) मन से। (परम्) परे सूक्ष्म। (अव्यक्तम्) सत्, रज और तुम गुणवाली प्रकृति। (अव्यक्तात्) अव्यक्त से। (पुरुषः) जीवात्मा और परमात्मा है। (पुरुषात्)

परमात्मा से। (न) नहीं। (परम्) सूक्ष्म। (किञ्चित्) कुछ भी। (सा) वह। (काष्ठा) अंतिम मार्ग अर्थात् मनुष्य-जीवन का उद्देश। (सा) वह जो सब से सूक्ष्म है। (परा-गतिः) ज्ञान और चलने की सीमा है जिसके पश्चात् न तो किसी का ज्ञान होता है और न उससे आगे कहीं जा सकते हैं।

(अर्थ) इस अलंकार में पंचकोष प्रकाशित करके एक को त्यागकर दूसरे में जाने के लिये जो जिससे सूक्ष्म है, उसको प्रकाशित करते हैं। ऋषि कहते हैं इस मन से परे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति मन से नहीं जानी जाती मन विकृति को भी जान सकता है। जिस समय सुषुप्ति की दशा में जीवात्मा कारण शरीर अर्थात् प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है, उस समय मन का काम नितान्त बन्द हो जाता है। क्योंकि इंद्रियों के विषयों को ही मालूम कर सकता है और इन्द्रियाँ आकृतिवाली होने से सब वस्तु को जान सकती हैं। क्योंकि जब तक प्रमाण मौजूद न हो किसी वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकता। तम का विरोध होने से प्रकाश का ज्ञान होता है। सर्दी को विरोध होने से गर्मी का ज्ञान होता है। निदान किसी वस्तु के ज्ञान होने में उसके विपरीत का ज्ञान होना आवश्यक होता है। विना विपरीत के ज्ञान हो ही नहीं सकता। वास्तव में ज्ञान या बुद्धि वहीं काम कर सकती हैं जहाँ अनेक प्रकार के पदार्थ हों, परन्तु प्रकृति साम्यावस्था है अर्थात् गुणों की उस अवस्था को जब एक दूसरे के विरुद्ध न हो प्रकृति कहते हैं। अतः मन से प्रकृति परे है, परन्तु पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा प्रकृति से भी परे हैं और परमात्मा से परे कोई वस्तु नहीं। यह ज्ञान का अन्तिम मार्ग है। जिस प्रकार उत्तर के सत्य होने पर गणितज्ञ की बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिस प्रकार सत्योक्ति पर न्याय के जाननेवाले का विचार स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार अंतिम उद्देश मार्ग पर पहुँचकर पथिक

की चाल समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म को जानकर जीव की सम्पूर्ण शक्ति जिससे वह जानने का श्रम करता है पूर्ण होकर समाप्त हो जाता है। ब्रह्म के जानने के पश्चात् किसी वस्तु को जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती, सम्पूर्ण इच्छाएँ ब्रह्मज्ञान होने पर रुक जाती हैं। न सम्पत्ति की जरूरत होती है क्योंकि सम्पत्ति की आनन्द के विचार से इच्छा होती है, क्योंकि सब आनन्द अपने-अपने मूल स्रोत पर पहुँच जाते हैं तो धन की आवश्यकता नहीं और न संतान की इच्छा होती है, और न यश प्रतिष्ठा प्रभुत्व अच्छा मालूम होता है। क्योंकि संसार में प्रत्येक वस्तु की इच्छा केवल आनन्द के स्वार्थ से है यदि आनन्द विचार न हो, तो जगत् में कोई इच्छा के योग्य वस्तु ही नहीं। परन्तु जब सत्य-ज्ञान हो गया, तो पता लग गया कि आनन्द इन पदार्थों में नहीं; किन्तु आनन्द स्रोत अन्य है। और जब उस आनन्द के स्रोत पर पहुँच गये तो फिर किस वस्तु की इच्छा हो सकती है।

प्रश्न—जनकादि बहुत से राजा ज्ञानी हुए हैं उनके पास धन सन्तान और हुकूमत भी थी और वह ज्ञानी भी थे।

उत्तर—धन की इच्छा तो ब्रह्मज्ञान में विघ्न है, परन्तु सम्पत्ति का होना तत्वज्ञान में विघ्न नहीं। क्योंकि धन का होना इच्छा पर निर्भर नहीं, किन्तु भोग के कारण से होता है। जिसके भोग में धन है वह वैराग्य वाला होकर भी धनी रह सकता है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।
॥ १२। ६६ ॥

(शब्दार्थ) (एषः) यह परमात्मा जो सब में व्यापक हो कर नियमानुकूल चला रहा है, जिसको योगी जन मन से

प्रत्यक्ष करते हैं अर्थात् जो शुद्ध मन से जाना जाता है। (सर्वेषु भूतेषु) सम्पूर्ण जीव तथा सम्पूर्ण तत्त्व में। (गूढात्मा) व्यापक होने से। (न) नहीं। (प्रकाशते) बुद्धि के बाह्य विषयों में लगे हुए होने से प्रकट नहीं होता। (दृश्यते) देखा जाता है। (अग्रया) जिसकी बुद्धि प्रत्येक काम में दखल पाने योग्य हो और विषयों की ओर लगी हुई न हो। (बुद्ध्या) ऐसी बुद्धि से। (सूक्ष्मया) सूक्ष्म हो। (सूक्ष्म दर्शिभिः) सूक्ष्म को देखनेवाले पुरुषों से।

(अर्थ) यह परमात्मा जो सब पदार्थों में व्यापक होकर उनको नियमों में चला रहा है, वह किसी एक स्थान पर नहीं, उसको देखने के लिये किसी स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं। सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक होते हुए, बुद्धि के बाह्य विषयों में लगे होने से प्रकाशित नहीं होता। क्योंकि अल्पज्ञ जीवात्मा की बुद्धि एक ओर ही काम कर सकती है; जब कि वह बाहर के विषयों में लगी हुई है, तब तक वह भीतर के सूक्ष्म पदार्थ को किस प्रकार देख सकती है। जो मनुष्य यह समझते हैं कि हम परमात्मा को देख ही नहीं सकते। इसलिये परमात्मा हैं ही नहीं, उनको बताया जावे कि परमात्मा देखा जाता है, किससे? मेधा-बुद्धि से, जो सूक्ष्म विचार के योग्य हो और वह बुद्धि सूक्ष्म पदार्थ को देखने योग्य हो। जिस प्रकार पानी में गति करते हुए कीट अथवा अइटम हमें दृष्टि नहीं पड़ते। परन्तु जिस समय खुर्दबीन से देखते हैं तो मालूम होने लगते हैं। क्या मोटी आँखों से दृष्टि न आने के कारण वह सूक्ष्म कीट जो खुर्दबीन के द्वारा देखे जाते हैं, उनकी सत्ता से इनकार करना बुद्धिमानी है? उत्तर स्पष्ट मिलेगा कि अतिरिक्त पागल के कौन मनुष्य उस सत्ता से इनकार कर सकता है। यद्यपि खुर्दबीन प्रत्येक घर में मौजूद नहीं, परन्तु जो खुर्दबीन में लगा कर देखता है, यदि उसकी आँखों में दोष न हो तो वह सूक्ष्म कीट अवश्य देखता है। इस कारण उस परमात्मा को

सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् धारणा बुद्धि से जान सकते हैं और जिन मनुष्यों की बुद्धि पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का परदा पड़ा हुआ है, वह उसको नहीं जान सकते, और जब तक परदा दूर न हो, तब तक उस परदा को दूर करने का यत्न करना तो निपुण मनुष्यों का काम है, परन्तु अपनी अन्धी आँख से सूर्य के दृष्टि न आने के कारण बजाय आँखों की चिकित्सा कराने के सूर्य को जिसको आँख-वाले लोग देख रहे हैं, कह देना कि वह नहीं है, स्वार्थी अज्ञानियों का काम है। अथवा जिनकी बुद्धि पर आवरण पड़ा हुआ है उनका काम है। अतएव जो मनुष्य परमात्मा की सत्ता से इनकार करते हैं वह तो बुद्धि की आँखों पर विषयों की इच्छा का परदा पड़ा होने से कोरे अंधे हैं। और जो मनुष्य परमात्मा को किसी एक स्थान पर बैठा हुआ समझ कर उसकी खोज में जाते हैं वह भी परमात्मा की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, परमात्मा प्रत्येक वस्तु में व्यापक है।

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ । ६७ ॥

(शब्दार्थ) (यच्छेत) इन्द्रियों को विषयों से हटाकर स्थिर करे। (वाक) वाणी और उससे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ। (मनसि) ज्ञान इन्द्रियों में। (प्राज्ञः) बुद्धिमान्। (तत्) उनको। (यच्छेत्) रोककर स्थिर करे। (आत्मनि) अहंकार में। (ज्ञानम्) ज्ञान इन्द्रियों को। (ज्ञाने) ज्ञान करनेवाले। (आत्मनि) अपने। (महति) मन में। (यच्छेत्) रोककर स्थिर करे। (तत्) उस मन को। (यच्छेत्) सब ओर से रोक कर स्थिर करे। (शान्ते) शांति देनेवाले, जहाँ पर मन स्थिर हो सकता है। (परमात्मनि) परमात्मा में।

(अर्थ) कर्मेन्द्रियों को विषयों की ओर से रोककर पहले ज्ञानेन्द्रियों के आधीन करे अर्थात् ज्ञान के विरुद्ध कभी काम न करे। पहले देखे तब चले। पहले जाने तब करे। और ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार के भीतर रोके अर्थात् जहाँ तक अपना अधिकार वहीं तक लेने का विचार करे, अपने हक़ से पृथक् वस्तु हर लेने का विचार भी न करे। और अहंकार को मन के अनुकूल काम करने पर उद्यत करे और मन को शांत स्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध कभी करने ही न दे। अतः जो बुद्धिमान् मनुष्य इस नियम को पालन करता है, वह उद्देश मार्ग तक पहुँच सकता है। और जो इसके विरुद्ध काम करता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट कर लेता है। कर्म सर्वदा ज्ञान के अनुकूल हो और ज्ञान सदा अपने अधिकार के अनुकूल हो और अधिकार सदा 'कानशन्स' का खून करनेवाला या मन के विरुद्ध न हो और मन सदा परमात्मा के नियम में चलनेवाला हो। कभी भी मन में वह विचार उत्पन्न न हो कि संसार में कोई मनुष्य विना अपने कर्मों के दुःख पा सकता है।

प्रश्न—श्रुति के शब्दों में से तो यह विदित होता है कि वाणी को मन के आधीन रक्खे और मन को आत्मा के अन्तःकरण के ज्ञान के आधीन और अन्तःकरण के ज्ञान को महत् अर्थात् बुद्धि के आधीन रक्खे और बुद्धि को शान्तात्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये। तुमने उसके विरुद्ध क्यों अर्थ किया।

उत्तर—ज्ञान और बुद्धि दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, अतः ऐसा अर्थ करने में पुनरुक्ति और-अन्योन्याश्रय दोष आते हैं जो ऋषियों की पुस्तक में हो नहीं सकते। क्योंकि दोषों से पुस्तक अप्रमाणित हो जाती है। इस कारण कर्मेन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियों में और ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार में और अहंकार को मन में और मन को परमात्मा के गुणों के चिन्तन में लगाने से सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अन्तःकरण में रहनेवाले परमात्मा को देख सकता है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो
वदन्ति ॥ १४ । ६८ ॥

(शब्दार्थ) (उत्तिष्ठत) उठो। (जाग्रत) जागो आलस्य त्यागो। (प्राप्य) प्राप्त करके। (वरान्) ब्रह्मविद्या के विद्वान् गुरु को। (निबोधत) जानो, ज्ञान प्राप्त करो। (क्षुरस्य धारा) छुरा की धार के अनुकूल तीक्ष्ण। (निशिता) तेज और अगम्य। (दुरत्यया) कठिनता से तरने-योग्य जिससे पाँव कटने का भय है। (दुर्गम्) दुःख से चलने। (पथः) मार्ग। (तत्) वह ब्रह्मज्ञान का मार्ग। (कवयः) ब्रह्मज्ञानी विद्वान् पुरुष। (वदन्ति) कहते हैं।

(अर्थ) ऋषि कहता है कि हे आलस्य निद्रा में सोने वालो! तुम्हारी यह अविद्या की निद्रा तुम्हारे लिये भयानक है, इससे चैतन्य होकर उठो और खोज करके ब्रह्मज्ञानी, गुरु के पास जाओ; क्योंकि जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, तुम अपनी वास्तविक अवस्था को नहीं जान सकते। जिनको अपनी सत्ता का ही ज्ञान न हो, वह अपने हानि लाभ को नहीं समझ सकता। और जिसको हानि लाभ का ही ज्ञान न हो, वह किस प्रकार दुःखों से मुक्त होकर आनन्द को प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग तीक्ष्ण छुरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण है, जिस पर चलने-वालों को एक-एक पग पर कटकर गिरने का भय है, जिस पर चलना बहुत ही कठिन है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी जन बताते हैं।

प्रश्न—किसी गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह मार्ग प्रत्यक्ष तो है नहीं जिसको इन्द्रियों से अनुभव कर सकें, जब कि सांसारिक मार्ग भी विना बतानेवाले के नहीं मालूम हो सकता, तो इस सूक्ष्म मार्ग के वास्ते क्या किसी गुरु की आवश्यकता ही नहीं।

प्रश्न—मार्ग बतानेवाले की आवश्यकता किसी अज्ञानी के लिये हो सकती है। हमने तो भूगोल तथा इतिहासादि विद्यायें पढ़ी हैं हमको गुरु की क्या आवश्यकता है।

उत्तर—निस्संदेह आपने जो विद्यायें पढ़ी हैं, उनकी प्राप्ति को किसी गुरु की आवश्यकता नहीं। परन्तु जिस प्रकार यह विद्या आपको बिना गुरु के प्राप्त नहीं हुई। आपने गुरु से ही पढ़ी है। ऐसे ही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये जब तक ब्रह्म-ज्ञानी गुरु न मिले आप उसक विद्वान् नहीं हो सकते।

प्रश्न—जब कि यह मार्ग इतना कठिन है कि छुरे की धार से अधिक तीक्ष्ण है, तो हमको क्या आवश्यकता पड़ी है जो इस पर चलें।

उत्तर—चाहे आप नित्य दुःख उठाया करें, जिस प्रकार मज़दूर रोज़ अन्न कमाता है और रोज ही समाप्त कर देता है। चाहे किसान की भाँति अधिक श्रम करके खेत बोयें और काटकर निवृत्त हो जावें। इस कठिन मार्ग को पूरा करने से या तो इकतीस नील दश खर्ब चालीस अरब वर्षों तक पूर्ण सुख भोगें, या नित्य ही कीड़े मकोड़े से भी नीच-गति प्राप्त करें।

प्रश्न—हम तो चाहते हैं कि इतने बड़े सुख को प्राप्त करें, परन्तु यह तो बहुत कठिन है।

उत्तर—वास्तव में कठिन है, परन्तु असम्भव तो नहीं। कठिन काम से अज्ञानी डरा करते हैं अथवा बलहीन कादर। यदि तुम नचिकेता जैसे लड़के से भी पाठ लेकर तृष्णा और विषय के त्याग के कठिन व्रत को धारण करो, सफलता आगे उद्यत है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५। ६९ ॥

(शब्दार्थ) (अशब्दं) जिस आकाश का गुण शब्द है। उससे वह ब्रह्म पृथक् है। (अस्पर्शं) जिस वायु का गुण स्पर्श है उससे भी वह ब्रह्म पृथक् है। (अरूपम्) जिस तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप है, उससे भी वह पृथक् है। (अव्ययम्) जन्म मरण से पृथक्। (तथा) ऐसे ही। (अरसं) जिस पानी का गुण स्वाद है, उससे भी अलग। (च) और। (यत्) जो। (अनादि) कारण से पृथक्। (अनन्तं) अमर। (महतः) सब से बड़ा होने के कारण। (परम्) अति सूक्ष्म है। (ध्रुवं) स्थिर एक रस है। (निचाय्य) प्राप्त करके अर्थात् ठीक-ठीक जान कर। (तम्) उसको। मृत्युमुखात् मौत के मुख से। (प्रमुच्यते) छूट जाता है।

(अर्थ) जो परमात्मा न आकाश है, जिसके गुण शब्द को कानों से सुन सकें। न वायु है, जिसके गुण स्पर्श को त्वचा से छू सकें। न आग है, जिसके गुण रूप को आँखों से देख सकें। वह नाश से पृथक् स्वाद-शक्ति जिसके जानने के योग्य है जो नित्य है जिसके अनुभव करने में नासिका भी असमर्थ है, क्योंकि वह गंधवाली पृथ्वी से भी परे है। वह अनादि है, वह अनन्त है, वह महान् है, अति सूक्ष्म है, वह सर्वदा एक रस है, वह निर्गति है। उसको जानकर ज्ञानी पुरुष मौत के मुख से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान से मौत के मुख से कैसे छूट जाता है?

उत्तर—जब तक अविद्या रहती है, तब तक अपने को शरीर जानता है और मौत शरीर का धर्म है इस कारण अपने को मृत्यु का भोजन समझता है। जब तक नियमानुकूल ब्रह्मज्ञान से पहले आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तो उसकी यह अविद्या कि मैं शरीर हूँ, दूर हो जाती है। और जब शरीर का सम्बन्ध छूटकर आत्मज्ञान हो गया, तब आत्मा को अमृत पाया। जब मैं आत्मा और अमृत हूँ तो मुझे मृत्यु का भय किस प्रकार हो सकता है।

**नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ । ७०॥**

(शब्दार्थ) (नाचिकेतम्) नचिकेता से प्राप्त हुआ। (उपाख्यानं) गुरु चेले की बात चीत की रीति पर । (मृत्युप्रोक्तं) मृत्यु नामी ऋषि का कथन। (सनातनम्) जो सनातन से सुनते आये हो। (उक्त्वा) कहने से। (श्रुत्वा) सुनने से। (च) और। (मेधावी) बुद्धिमान् लोग। (ब्रह्मलोके) ब्रह्म-दर्शन के आनंद में। (महीयते) प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

(अर्थ) जो यह गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर की विधि पर वर्णन किया हुआ, नचिकेता से यमाचार्य का उपदेश है। जो क्रम से प्रत्येक ऋषि से प्रकाशित होने के कारण सनातन है। जो बुद्धिमान् इसको कथा की रीति पर कहेगा अथवा सुनेगा वह ब्रह्मदर्श की महिमा को प्राप्त कर लेगा अर्थात् उसको ब्रह्मज्ञान हो जावेगा।

प्रश्न—इस कथा के सुनने से ब्रह्मज्ञान हो जावे, तो और साधनों की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—श्रुति में पहले ही मेधावी-बुद्धि का शब्द दिया हुआ है। मेधावी-बुद्धि का पुरुष जो इस कथा को कहे या सुनेगा तो उसके संस्कारों के उत्तम होने से, उसके अन्तःकरण में इस बात का निश्चय हो जावेगा। क्योंकि विना ज्ञान और मन के मल विक्षेप दोष दूर हुए मेधा-बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जब मेधा-बुद्धि प्राप्त हुई तो उसके सीधे अर्थ यह हैं कि यदि कमी भी थी तो केवल विज्ञान की थी, जिसको इस कथा ने पूरा कर दिया।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ । ७१ ॥

(शब्दार्थ) (य) जो ज्ञानी मनुष्य । (इमम्) यह गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर । (परमम्) जो बहुत ही सूक्ष्म परमात्मा के सम्बन्ध में हैं । (गुह्यं) जो मूर्ख से गुप्त रखने योग्य, केवल अधिकारी ही को गुप्त उपदेश करने योग्य हैं । (श्रावयेद्) इसके मूल तत्त्व को समझकर सुनावे अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे । (ब्रह्मसंसदि) जिस समय ब्रह्मज्ञानियों की सभा हो । (प्रयतः) शरीर, मन, इन्द्रिय को शुद्ध करके और एक ओर लगाकर । (श्राद्धकाले वा) जिस समय विद्वान् श्रद्धा पूर्वक सेवा के लिये बुलाए गये हों । (तत्) वह सुनना । (आनन्त्याय) अनन्त फल, अर्थात् ब्रह्म-दर्शन को प्राप्त करने-वाला । (कल्पते) होता है, स्वीकार किया जाता है ।

(अर्थ) जो पूर्ण विद्वान् आचार्य या गुरु इस परम पवित्र ब्रह्म-विद्या की बात-चीत को, जो अज्ञानियों से सर्वदा गुप्त रखने योग्य है । केवल उन मनुष्यों को जो इसके अधिकारी हैं, वदिक समाज में जहाँ पर मूर्ख न हों, केवल ब्रह्म-विद्या के अधिकारियों की ही सभा हो अथवा पूर्ण विद्वान् लोग श्राद्ध के लिये बुलाए गये हों । शुद्ध होकर मन और इन्द्रियों को वश में करके सुनावे । तो उस सुनाने का फल यह होता है कि वह अनन्त ब्रह्म के दर्शन करके उसके आनन्द को प्राप्त करते हैं । पुनर्बार कहना केवल वल्ली के समाप्त होने का चिह्न है ।

प्रश्न—मूर्खों से गुप्त रखना क्यों कहा ?

उत्तर—मूर्ख इसके तत्त्व को तो समझ ही नहीं सकते, जिससे यह ज्ञान उनके लिये लाभदायक हो । उनको उपदेश करने से ऐसा ही परिणाम है, जैसा कि आज कल वेदांत की शिक्षा ने उत्पन्न कर दिया है कि उनको ब्रह्मज्ञान का कुछ पता नहीं लगा । केवल धर्म के व्यवहार बिगाड़ दिये, कौड़ी-पैसे

माँगते हुए ब्रह्म बन गये। गृहस्थियों के लिए तो जगत् मिथ्या का उपदेश आरम्भ हो गया। और आप उदासी, वैरागी, संन्यासी कहलाते हुए भूमि (ज़मींदारियाँ) क्रय करने लगे।

प्रश्न—वैदिक-समाज या ब्राह्मण सभा में सुनाने की क्या विधि बताई।

उत्तर—यदि मूर्खों में सुनाने का विधान बताते, जो इच्छा होती। आज कल के कनफुकुवे गुरुओं की भाँति उपदेश कर देते। परन्तु जब विद्वानों की समाज में उपदेश करना है, तो किसी नादान का साहस नहीं हो सकता कि वहाँ उपदेश करे। जिस प्रकार गाँव में खोटा रुपया तो प्रायः चल जाता है, परंतु सराफ़ के सामने खोटा रुपया ले जाते हुए घबराते हैं, क्योंकि चलना तो कठिन, पकड़े जाना सरल दृष्टि आता है। दूसरे यदि कोई बात समझाने में रह गई तो उस समय साफ़ हो जाती है।

इति तृतीय वल्ली।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू,
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्तचक्षुरमृतत्व मिच्छन् ॥१।७२॥

(शब्दार्थ) (पराञ्चि) दूसरे बाहर के विषयों की ओर। (खानि) इन्द्रियाँ नाक, कान, आँख आदि। (व्यतृणत्) फैलाता है। (स्वयम्भू) यह नित्य रहनेवाला जीव, जो

अपने आप है किसी ने उत्पन्न नहीं किया। (तस्मात्) इस कारण से। (पराङ्) दूसरों को। (पश्यति) देखता है। (न) नहीं। (अन्तरात्मन्) आत्मा में। (कश्चित्) कोई मुख्य आत्मा। (धीरः) योगी। (प्रत्यगात्मानम्) जीवात्मा में व्यापक परमात्मा को। (ऐक्षत्) देखता है। (आवृतचक्षुः) ज्ञान-इन्द्रियों को बाहर के विषयों से बन्द करके। (अमृतत्वम्) मुक्ति पद को। (इच्छन) चाहता हुआ।

(अर्थ) इन्द्रियाँ ईश्वरीय नियम से बाहर की ओर देखने-वाली बनी हैं। अतः जागने की अवस्था में जब जीवात्मा इन्द्रियों से काम लेता है तो इन्द्रियों को बाहर की ओर फैलाता है, जिससे बाहर के विषयों का ज्ञान हो। क्योंकि इन्द्रियों से जिनका सम्बन्ध हो, उन्हीं का ज्ञान हो सकता है। आत्मा के भीतर यह इन्द्रियाँ जा ही नहीं सकतीं, इस कारण आत्मा के भीतर का ज्ञान जागने की दशा में हो नहीं सकता। अब बाहर केवल प्रकृति के विकारों की उपासना होती है। जिससे प्रकृति का गुण परतंत्रता ही जीव में आती है। परतंत्रता दुःख है, अतः जागने की दशा में जीव को दुःख ही अनुभव होता है। ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, प्रभृति प्रत्येक दोष जागने की अवस्था में ही होता है। इस कारण इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध ही दुःख का कारण है। और जब इन्द्रियों का विषयों से निद्रावस्था में सम्बन्ध अलग हो जाता है, तो सम्पूर्ण दुःख भाग जाते हैं।

सोने की दशा में न ईर्षा होती है, न द्वेष, काम होता है, न क्रोध, न लोभ होता है, न मोह, यह सब दोष जागने की दशा में इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होते हैं। जब कोई ज्ञानी पुरुष इस विचार को ध्यान में रखकर कि इन्द्रियों से जो कुछ अनुभव होता है सब नाशवाला है। इन्द्रियों को बन्द करके भीतर रहनेवाले अमृतात्मा को देखता है अर्थात् समाधि करके परमात्मा को जानता है।

प्रश्न—क्या कारण है, भीतर ही परमात्मा को देखें, जबकि सर्वव्यापक होने से परमात्मा बाहर भी है ?

उत्तर—बाहर परमात्मा प्रकृति में व्यापक है। प्रकृति स्थूल है और परमात्मा सूक्ष्म है, जबकि स्थूल में सूक्ष्म प्रविष्ट हो, तो स्थूल का ही ज्ञान होगा ; जैसे तिलों में तेल है। देखनेवाले को तिल मालूम होंगे, तेल नहीं। परन्तु जीवात्मा में प्रकृति जा नहीं सकती, क्योंकि वह जीव से स्थूल है। जीव के भीतर केवल ब्रह्म रह सकते हैं, जो जीव से सूक्ष्म हैं। अतः जब आत्मा के अन्दर देखते हैं, तब ब्रह्म का ज्ञान होता है, जैसा कि सुषुप्ति और समाधि और मुक्ति के समय होता है।

प्रश्न—मुक्ति का प्रमाण क्या है ? बहुत से लोग तो मानते हैं कि मुक्ति कोई वस्तु नहीं।

उत्तर—जिस वस्तु का प्रतिबिम्ब अर्थात् फ़ोटू हो, उस वस्तु का अभाव नहीं हो सकता। मुक्ति तो जिस किसी की होगी उसी की होगी समाधि योग की जो कोई मेहनत सहन करेगा, उसको मालूम होगी। परन्तु सुषुप्ति, जो मुक्ति का फ़ोटू है, परमात्मा प्रत्येक जीव को चाहे, वह कैसा ही पापी क्यों न हो, नित्य दिखाकर उपदेश करते हैं कि हे मूर्ख ! जब विषयों से सम्बन्ध करेगा, तब दुख होगा; जैसा कि जागने की दशा में। और जब तुम विषयों से अलग रहोगे, तब दुःख भाग जावेंगे, जैसा कि सोने की दशा में।

प्रश्न—फिर लोग क्यों विषयों की इच्छा करते हैं।

उत्तर—बुरी संगति और ज्ञान की कमी और आत्मिक बल के न होने से परमात्मा का निश्चय पूर्वक ज्ञान नहीं होता और प्राकृतिक विषयों को प्रत्यक्ष देखकर उसमें मनुष्य फँस जाते हैं, जैसा कि अगली श्रुति में दिखलाते हैं।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥२।७३॥

(शब्दार्थ) (पराचः) अपने शरीर से बाहर की। (कामान्) सुंदर स्त्रियों, धन और सवारी आदि विषयों की कामना को। (अनुयन्ति) चाहते हैं। (बालाः) अज्ञानी लोग। (ते) वह लोग। (मृत्योर्यन्ति) वह मृत्यु को प्राप्त करते अर्थात् बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में फँसते रहते हैं। (विततस्य) प्रत्येक जीव के अन्दर फैली हुई। (पाशम्) बन्धन को। (अथ) इसलिये। (धीराः) धीर लोग। (अमृतत्वं) मोक्ष पद को। (विदित्वा) जानकर। (ध्रुवम्) स्थिर रहनेवाले विचार को। (अध्रुवेषु) स्थिर न रहनेवाले शरीर में। (इह) इस शरीर में या संसार में। (न) नहीं। (प्रार्थयन्ते) इच्छा रखते अर्थात् माँगते।

(अर्थ) शरीर से बाहर रहनेवाले पदार्थों की इच्छा अज्ञानी लोग करते हैं। क्योंकि उसका परिणाम सुख नहीं; किंतु उससे दुःख ही उत्पन्न होता है। क्योंकि शरीर से बाहर जो कुछ दीखता है, यह सब प्राकृतिक पदार्थ हैं। प्रकृति में ज्ञान और आनन्द दोनों नहीं। बुद्धिमान् इच्छा उस वस्तु की करता है जो लाभदायक हो। लाभदायक का लक्षण ही यह है कि या तो दोष को दूर करनेवाली हो या न्यूनता को पूरा करनेवाली हो। जीवात्मा में अल्पज्ञान का दोष और आनन्द की न्यूनता है। प्रकृति ज्ञान से शून्य है, इस कारण अल्पविद्या के दोष को दूर नहीं कर सकती। प्रकृति में आनन्द भी नहीं, इस कारण आनन्द की न्यूनता को भी पूरा नहीं कर सकती, जो दोष को दूर न कर सके और न्यूनता को पूरा न कर सके वह किसी दशा में लाभदायक नहीं हो सकती। और जो हानिकारक की इच्छा करे, उसके अज्ञानी होने में क्या संदेह

है। इसका परिणाम यह है कि प्रकृति-उपासक लोग बार-बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं। क्योंकि प्राकृतिक सम्बन्ध मृत्यु, रज्जु इस प्रकार फैली हुई है, जैसे तिलों में तेल। इस कारण जो मनुष्य धारणा बुद्धि रखते और जिन्होंने मृत्यु और अमृत में ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो इस बात को जान गये हैं कि यह संसार नाशवाला है, प्रत्येक वस्तु संसार में पैदा और नाश होती है। और जो स्वयं नाश होनेवाला है, तो उसका प्रत्येक पदार्थ नाशवाला हुआ। अतः उससे पृथक् कोई भी नित्य अर्थात् सदा स्थिर नहीं रह सकती। क्योंकि कार्य मात्र अर्थात् सम्पूर्ण उत्पन्न होनेवाली वस्तु नाशवाली हैं, परन्तु कारण अवश्य नित्य है। जिसका कारण उत्पन्न होनेवाला हो, वह उत्पन्न होनेवाला कारण किसी प्रकार भी नाश और उत्पत्ति से पृथक् नहीं हो सकता। इस कारण इस संसार में किसी वस्तु को नित्य न देखकर इनकी चीज़ों से अपने आपको नित्य होने की इच्छा नहीं करते।

प्रश्न—आत्मा तो हर हालत में नित्य है यदि वह प्रकृति की इच्छा करे, तो भी उसका नाश नहीं हो सकता। यदि आत्मा को जान ले तो भी नाश नहीं हो सकता।

उत्तर—जब आत्मा प्रकृति की उपासना करती है, तो उस समय अपने आप को शरीर समझती है, जिससे सदा मृत्यु के भय में रहकर दुःख पाती है। और शरीर नाशवाला है, इसकी रक्षार्थ निशिदिन दास की भाँति लगा रहता है, जिससे उसको स्वतंत्रता और सुख प्राप्त नहीं होता। और जब अपने को आत्मा अनुभव करती है तो मौत के भय से अभय हो जाती है। उस समय उसको दुःख-मृत्यु का बंधन घबड़ाहट में नहीं डालता। वह जानती है मृत्यु से रहित अमृत आत्मा। है। यह शरीर किराया-गाड़ी है, इसके नाश होने से मेरी क्या हानि है।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥
एतद्वैतत् ॥ २ ।७४ ॥

(शब्दार्थ) (येन) जिससे । (रूपम्) रूप को जो आँखों से देखा जाता है । (रसम्) स्वाद जो रसना-इन्द्रिय से जाना जाता है । (गन्धम्) गंध को जो नाक से अनुभव होती है । (शब्दान्) शब्द को जो कान से सुना जाता है । (स्पर्शान्) स्पर्श जो त्वचा से जाना जाता है । (मैथुनान्) मैथुन को । (एतत्) इसी से । (एव) भी । (विजानाति) जानता है । (किम्) क्या । (अत्र) इस संसार में । (परिशिष्यते) शेष रहता है । (एतत्) यह आत्मा है (वै) निश्चय करके । (तत्) वह है ।

(अर्थ) जिसके द्वारा रूप, रस, स्वाद, गंध, शब्द, स्पर्श, मैथुन आदि को जानता है, जिस प्रकार आँख रूप को देखने का शस्त्र है । आँख खुलने से ही पदार्थ दीखते हैं । आँखें बन्द होने से पदार्थ नहीं देखते, परन्तु आँख अपनी शक्ति से नहीं देखती । यदि सूर्य का प्रकाश न हो, तो आँख खुली होने पर भी नहीं देख सकती इस कारण देखने का सबब केवल आँख ही नहीं, किन्तु सूर्य भी है । यदि आँख और सूर्य दोनों हों, परंतु मन का सम्बन्ध आँख से न हो, तो रूप का ज्ञान नहीं हो सकता । जैसा कि प्रायः देखते हैं । कोई कहता है कि आपने देखा, उत्तर मिलता है कि मेरा ख्याल नहीं था । अतः आँख और सूर्य प्रकाशक नहीं किन्तु मन का सम्बन्ध प्रकाशक है । यदि मन से जीवात्मा का सम्बन्ध न रहे, तो मन एक जड़ वस्तु है, उससे किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । क्योंकि शस्त्र है जैसे खुर्दबीन (सूक्ष्म तीक्ष्ण) चीजों को देख सकते हैं, लघु से लघु दृष्टि पड़ जाती है, परंतु खुर्दबीन स्वयम् कुछ

नहीं देख सकती। यही दशा मन की है। अतः मन भी प्रकाशक नहीं, किन्तु जाननेवाला जीवात्मा है परन्तु जीवात्मा विना मनशादि शस्त्रों के किसी वाह्य पदार्थ रूपादि को नहीं जान सकता। जिस प्रकार फ़ोटू-ग्राफ़र चित्र खींचता है, यदि कैमरा आदि शस्त्र मौजूद न हो, तो फ़ोटू-ग्राफ़र कुछ नहीं कर सकता। ऐसे ही जीवात्मा विना शरीर के कैमरे, मन और इन्द्रियों के शीशों के, किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब अर्थात् फ़ोटू नहीं ले सकता। इसलिये फ़ोटू-ग्राफ़र का काम कैमरा आदि शस्त्र बनानेवाले के आधीन है। अतः जिसने यह शरीर का कैमरा और मन और इन्द्रियों के शीशा बनाकर जीवात्मा को दिए हैं, वही परमात्मा इन रूप आदि के जानने का कारण है। जब उस परमात्मा को जीवात्मा जान जावे तो फिर आर कोई वस्तु जानने योग्य शेष नहीं रहती। अतएव जानने का कारण वह परमात्मा ही है। इसके जानने से सब का ज्ञान हो सकता है। उसके बिना जाने किसी वस्तु का तत्त्व नहीं जाना जाता।

प्रश्न—क्या नास्तिक लोग आँख से नहीं देख सकते ?

उत्तर—देख तो अवश्य सकते हैं, क्योंकि परमात्मा उन को शस्त्र दिए हुए हैं, परंतु सत्य नहीं जान सकते। यथा एक नास्तिक की आँख में कमल रोग है, अब वह आँख को तो देख नहीं सकता, श्वेत पदार्थ उसको पीले दृष्टि पड़ते हैं। परन्तु सब पदार्थ वास्तव में श्वेत हैं, आँख पीला दिखलाती है। क्या यह सत्यज्ञान है।

प्रश्न—अपनी आँख को यह शीशे के द्वारा देख लेगा। जब आँख पीली दृष्टि पड़ेगी, तो उसको अपने बीमार होने का ज्ञान हो जावेगा और सब वस्तुएँ पीली मालूम होने से वह विचार करेगा कि सब वस्तुएँ तो पीली हो नहीं सकतीं, अतः मेरी आँख में ही बीमारी है।

उत्तर—आँख से शीशा भी पीला ही दृष्टि पड़ेगा और जिसकी आँख में पीली ऐनक लगी हो, उसको कुल वस्तुएँ

पीली ही देख पड़ती हैं । उसका निर्णय किस प्रकार होगा कि आँख के पीली होने से कुल पदार्थ पीले देख पड़ते हैं, या ऐनक के पीला होने या पदार्थों के पीला होने से । यदि कहो ऐनक के उतारने से सब वस्तुएँ पीली देख पड़ेंगी, तो विचार हो जावेगा कि उनके पीला देखने का कारण ऐनक का पीला होना नहीं । उस समय वस्तुओं का पीला होना और आँख का पीला होना नाशक का कारण होगा। वस्तुएँ असली दशा से दृष्टि नहीं आ सकतीं ; क्योंकि आँख में दोष है । अतः नास्तिक किसी दशा में भी सत्यज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता । यह पक्ष बहुत लम्बा है, इस जगह इस पर विचार नहीं किया जा सकता ।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

॥ ४ । ७५ ॥

(शब्दार्थ) (स्वप्नान्तं) सोने के अंत में । (जागरितान्तं) जागने के अन्त में । (च) और । (उभौ) दोनों में । (येन) जिसके कारण से । (अनुपश्यति) देखता है । (महान्तम्) सब से बड़ा और सूक्ष्म । (विभुम्) सर्वव्यापक । (आत्मनम्) आत्मा को । (मत्वा) जानकर । (धीरो) धीर पुरुष । (न) नहीं । (शोचति) शोच में पड़ता ।

(अर्थ) सोने के अन्त में अर्थात् प्रातःकाल और जागने के अन्त में अर्थात् सायंकाल और दोनों दशाओं में जो परमात्मा को देखते हैं । जो ज्ञानी पुरुष दोनों काल संध्या में परमात्मा का ध्यान करते हैं, वह सब से सूक्ष्म अर्थात् गुणों से सूक्ष्म जिसका अन्त पाने में बुद्धि भी रह जाती है । बुद्धि ही सब से अधिक जानने की शक्ति रखती है, परन्तु परमात्मा के जानने में बुद्धि की शक्ति का भी अन्त हो जाता है । क्योंकि सीमा दो प्रकार से होता है, एक देश, दूसरे काल से । वह व्यापक होने के कारण

देश की सीमा से बाहर है। दश प्रकृति के रजोगुण का नाम है वह नित्य होने से काल की सीमा से भी बाहर है। काल भी प्रकृति के रजोगुण का नाम है। जब प्रकृति ही उसके एक भाग में है, तो देश काल जो प्रकृति के एक भाग हैं, उसको किस प्रकार घेर सकते हैं। और जो न घेरें तो वह सीमा किस प्रकार कर सकता है। जो लोग उस परमात्मा को जान जाते हैं उनको कभी सोच नहीं हो सकता।

प्रश्न—परमात्मा के जानने से शोच किस प्रकार भाग सकता है ?

उत्तर—जो लोग परमात्मा को जानते हैं उनको पूर्ण निश्चय होता है कि परमात्मा के अतिरिक्त मृत्यु किसी अन्य के हाथ में नहीं। और न उसके नियम के विरुद्ध कोई कष्ट ही दे सकता है और परमात्मा न्याय और दया के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। न्याय और दया दोनों अच्छे हैं; न न्याय बुरा है न दया। अतः परमात्मा जो कुछ करते हैं, अच्छा करते हैं। जो अच्छी बात हो उसमें किसी को दुःख और शोच हो ही नहीं सकता। दुःख और शोच बुरी बातों में होता है। जब सदा कोई बुरा काम करता है, जो कुछ हमने पाप-कर्म किये हैं, उसके बदले ही हमको दुःख होता है, जिससे हमारे पापों का ऋण कम होता है। चाहें हम दुख से घबरावें परन्तु वास्तव में वह हमारे लिये अत्यन्त लाभकारी है। क्योंकि हमारे ही कर्मों का फल है, जिससे पापों का ऋण कम होता है।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।
एतद्वैतत् ॥ ५। ७६ ॥

(शब्दार्थ) (य) जो मनुष्य अथवा ज्ञानी पुरुष। (मध्वदं) कर्म-फल भोगनेवाले जीवात्मा को। (वेद) जानता

है। (आत्मानम्) आत्मा को जो जीव में व्यापक है। (अंतिकात्) जीव के भीतर रहने और चैतन्य होने से जो उसके पास है। (ईशानं) स्वामी है। (भूत भव्यस्य) भूतकाल भविष्यत्काल का। (न) नहीं। (ततः) उस ज्ञान से। (विजुगुप्सते) निन्दा को प्राप्त होता। (एतद्वै) निश्चयपूर्वक। (तत्) उस ज्ञान का फल है।

(अर्थ) जो मनुष्य इस अर्थात् कर्म के फल पानेवाले जीवात्मा को जानता है। जगत् की उत्पत्ति से न तो परमात्मा को कोई लाभ हो सकता है और न प्रकृति को। केवल जगत में कर्म का फल भोगनेवाला जीवात्मा है। उस कर्म-फल का देने वाला परमात्मा जीव में व्यापक है, जो चैतन्य होने से जीव का तटस्थ और भूत और भविष्यत् का स्वामी है। परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त करके फिर किसी जीव को सोच करना नहीं पड़ता। यही इस ज्ञान का फल है, जो हे नचिकेता, फिर प्रकाशित किया गया है कि ज्ञानी को कभी पछताना नहीं पड़ता।

यः पूर्वं तपसोजातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ।
एतद्वै तत् ॥ ६ । ७७ ॥

शब्दार्थ—(यः) जो ज्ञान (प्रयत्न) शक्तिवाला जीवात्मा। (पूर्वं) सृष्टि के आदि में। (तपसः) अग्नि से पूर्व। (जातम्) उत्पन्न हुआ। (अद्भ्यः) प्राणों से। (पूर्वं) पहले। (अजायत) प्रकाशित हुआ। (गुहां) बुद्धि में। (प्रविश्य) प्रविष्ट होकर। (तिष्ठन्तं) रहनेवाले के साथ। (यः) जो। (भूतेभिः) पंच भूत के साथ व्यापक। (व्यपयश्त) उसी को अपने आत्मा में ध्यान करता है। (एतद्वै) निश्चय पूर्वक। (तत्) उस ज्ञान का फल है।

(अर्थ) जो जीवात्मा सृष्टि के आदि में प्राण को जो तेज

से उत्पन्न होता है, अपने साथ लेकर प्रकट होता है। क्योंकि विना प्राण जीवात्मा अपनी शक्ति का प्रकाशित नहीं कर सकता। जीव का लक्षण ही यह है। परन्तु उस ज्ञान से काम लेने के लिये शास्त्रों की आवश्यकता है। जिस परमात्मा ने जीवात्मा को अन्तःकरण आदि शस्त्र दिये हैं, जब उस अन्तः-करण अर्थात् बुद्धि के साथ जो प्रत्येक भूत में व्यापक हुए से रहनेवाले को जब देखता है तब उसकी दशा ऐसी हो जाती है कि वह उस फल को जिनका उपर्युक्त श्रुतियों में वर्णन आया है, पा लेता है।

प्रश्न—श्रुति में तो अद्भ्यः शब्द, जिसके अर्थ जल से हैं। तुमने इसके अर्थ प्राण से कैसे किये ?

उत्तर—शतपथादि पुस्तकों से प्रकट है कि जल से प्राण उत्पन्न होते हैं और प्राणों से जीवात्मा की शक्ति का प्रकाश होता है।

प्रश्न—तप अर्थात् अग्नि से प्राण पैदा होते हैं, इसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित किया है कि अग्नि से जल पैदा होता है। देखो तैत्तिरीयोपनिषद् उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से अग्नि और अग्नि से जल आदि आदि।

प्रश्न—आत्मा से आकाश कैसे उत्पन्न हो सकता है क्योंकि वह नित्य है।

उत्तर—आकाश के दो लक्षण हैं, एक निकलना और प्रवेश होना, जिसके सहारे होसके। दूसरे शून्य जगत् का होना। यह दोनों विना आत्मा के प्रकृति को गति (हरकत) देने के योग्य हो ही नहीं सकते। इन लक्षणों की उत्पत्ति के विचार से आकाश उत्पत्ति स्वीकार की गई है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत।
एतद्वै तत् ॥७।७८॥

(शब्दार्थ) (या) जो। (प्राणेन) प्राणों के रोकने अर्थात् प्राणायाम से। (सम्भवति) उत्पन्न होती है। (अदितिः) स्थिर रहनेवाले माँ के अनुकूल सुख की इच्छा रखनेवाली। (देवतामयी) ब्रह्म के जानने योग्य सूक्ष्म। (गुहाम्) उस अन्तःकरण अर्थात् मन में। (प्रविश्य) प्रवेश करके। (तिष्ठन्तीम्) स्थिर मेधा-बुद्धि को। (या) जो धारणा बुद्धि। (भूतेभिः) प्राकृतिक शरीर के साथ है। (व्यजायत) उत्पन्न होती है। (एतद्वै) निश्चय पूर्वक। (तत्) उस ब्रह्म को जान सकता है।

(अर्थ) जो बुद्धि योग के यमादि अंगों से ठीक-ठीक सूक्ष्म होकर सूक्ष्म ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली होती है। उस अन्तःकरण में रहनेवाली बुद्धि से ही जो प्रकृति शरीर में आकर ही उत्पन्न होती है, ब्रह्म को जान सकते हैं।

प्रश्न—क्या विना प्राकृतिक शरीर के ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता?

उत्तर—जिस प्रकार किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब लेने के लिए फ़ोटू-ग्राफर का कैमरा बनाया जाता है, उस कैमरा में वही वस्तु होती है जिसकी तसबीर उतारने में आवश्यकता होती है। कैमरा के विना चित्र नहीं खींच सकते। शीशा के विना आँख और उसमें रहनेवाले सुरमा को नहीं देख सकते। इसी प्रकार प्राकृतिक शरीर के विना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—तो जो लोग शरीर से अचिंत्य होते हैं। वह बड़ी भूल करते हैं।

उत्तर—शरीर किराये की गाड़ी है, मार्ग पर जाने के लिये गाड़ी अवश्य होनी चाहिये। और मार्ग पर पहुँचने की दशा में गाड़ी का छोड़ना भी अवश्य है। रही गाड़ी की चिन्ता वह

गाड़ी के स्वामी को होना चाहिए। किरायेदार को मार्ग पर पहुँचने का विचार होना चाहिए। इस कारण जो मनुष्य बुद्धिमान् हैं, वह गाड़ी से अचिंत होकर आत्मा की चिन्ता करते हैं।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्योजागृवद्भि-र्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वैतत्॥ ८।७६॥

(शब्दार्थ) (अरण्योः) दो लड़कियों के मध्य। (निहितः) भीतर रहनेवाली यथा रगड़ने से। (जातवेदा) अग्नि। (गर्भइव) गर्भ की भाँति। (सुभृतः) भली प्रकार धारण किया हुआ। (गर्भिणीभिः) गर्भिणी के द्वारा। (दिवे दिवे) नित्य। (ईड्यः) प्रशंसा करने योग्य है। (जागृवद्भिः) जिनकी बुद्धि सतोगुणी दशा में है। (हविष्मद्भि) जो ज्ञानी ईश्वर के ज्ञान ध्यान में लगे हुए हैं। (मनुष्येभिः) मनुष्यों से। (अग्निः) अग्नि निकलती है। (एतद्वैतत्) यही ब्रह्मज्ञान का साधन है।

(अर्थ) जिस प्रकार दो लकड़ियों को नीचे ऊपर रखकर रगड़ने से अग्नि निकल आती है। यद्यपि रगड़ने से पहले लकड़ियों में आग मालूम नहीं होती। जैसे गर्भिणी स्त्री से बालक पैदा होता है, यद्यपि उत्पन्न होने से पहले वह दृष्टि नहीं आता। इसी प्रकार जो सतोगुणी मनुष्य, जिनकी बुद्धि सूक्ष्म और शुद्ध है, जिनके कर्म उन्नति की ओर ले जाते हैं उनके नित्य-प्रति परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने से उनको ब्रह्मज्ञान हो जाता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा खुशामदी है, जो स्तुति करने से प्रसन्न होता है?

उत्तर—स्तुति के अर्थ खुशामद करना नहीं, किन्तु स्तुति के अर्थ उसके ठीक-ठीक गुणों को जानकर कहना है। जिसके गुणों को हम जानकर कहते हैं, उससे मन को प्रीति होती है।

प्रश्न—हम प्रार्थना क्यों करें, क्या जिस वस्तु की हम प्रार्थना करेंगे, वह हमको दे देंगे, यदि नहीं देंगे, तो प्रार्थना व्यर्थ है।

उत्तर—प्रार्थना के तीन फल हैं, अभिमान को दूर होना, दूसरे इष्ट का ज्ञान अर्थात् लाभकारी का ज्ञान, तीसरे लाभकारी वस्तु जिससे प्राप्त होती हैं, उसका ज्ञान। जब तीनों वस्तु प्राप्त होती हैं तो प्रार्थना व्यर्थ क्यों है ?

प्रश्न—प्रार्थना करने से अभिमान किस प्रकार दूर होता है ?

उत्तर—प्रार्थना का अर्थ माँगना है। कोई मनुष्य जब तक उसको प्राप्त करने का निश्चय न हो, माँगता नहीं। जब उसका यह निश्चय हो जावे कि मैं अपनी शक्ति से प्राप्त नहीं कर सकता, तब ही माँगता है। जब अपनी शक्ति की न्यूनता का ज्ञान हो गया, तो अभिमान कहाँ रहा।

प्रश्न—उपासना का क्या फल है।

उत्तर—जिसके गुणों को प्राप्त करना हो, उसकी उपासना की जाती है। यथा, सर्दी के लिए पानी की उपासना, गर्मी के लिए आग की उपासना की जाती है। उपासना के अर्थ ही पास बैठना है। जिसके पास बैठेंगे, उसके गुण अवश्य ही आ जावेंगे। इस कारण आनन्द गुण के ब्रह्म में रहने से आनन्द की इच्छा से ब्रह्म की उपासना की जाती है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत् ॥ ६। १० ॥

(शब्दार्थ) (यतः) जिसके प्रबन्ध से। (च) और।

(उदेति) उदय होता है। (सूर्यः) सूर्य। (अस्तं) अस्त। (यत्र) जिसके नियम में। (च) और। (गच्छति) जाता है। (तम्) उस परमात्मा को। (देवाः) विद्वान् या सूर्यादि प्रकाश देनेवाले। (सर्वे) सब कुछ। (अर्पिताः) उससे प्राप्त करते हैं अर्थात् जिसने सब कुछ शक्ति दी है। (तदु) उससे। (न) नहीं। (अत्येति) उसकी आज्ञा के विरुद्ध काम कर सकता है। (कश्चन) कोई सूर्यादि देवता या मनुष्य। (एतद्वै तत्) निश्चय करके उसकी शक्ती यही है।

(अर्थ) जिस परमात्मा के नियम से सूर्य उदय होता है, अर्थात् जिस देश में, जिस समय, जिस तारीख़ को उदय होने का नियम नियत है, उसी समय सूर्य उदय होगा। जिस समय अस्त होने का नियय है, उसी समय अस्त होगा। उस परमात्मा ने ही इन सम्पूर्ण देवताओं को शक्ती दी है, उसी की शक्ति से यह काम करते हैं। किसी ज्ञानी मनुष्य में या देवता में यह शक्ति नहीं कि वह परमात्मा के नियम को तोड़ सके। अतः यही उसकी शक्ति है कि कोई भी उसके नियम को तोड़ नहीं सकता। अपने का पापी तो बना सकते हैं अर्थात् उसकी आज्ञा के विरुद्ध कर सकते हैं, परन्तु नियम के विरुद्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न—बहुत से साधु-महात्मा, बली आदि ऐसे काम करते हैं, जो परमेश्वर के नियम के विरुद्ध मालूम होते हैं, जिनको "करामात" के नाम से पुकारते हैं। जैसे मूसा की लाठी साँप बन गई, मुहम्मद साहब ने चाँद के टुकड़े कर दिये आदि आदि।

उत्तर—परमात्मा के नियम के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता, करामात दो प्रकार की बातों को लेकर बन जाती है। एक विद्या की बातें, जिनको साधारण लोग जानते नहीं, जब कोई विद्वान् साधु, ब्राह्मण कर देता है, तो उसको करामाती कहने लगते हैं। प्राचीन समय में जब दियासलाई का चलन

नहीं था, ब्राह्मण फासफोरस के चाबल बना रखते थे। जब आग की ज़रूरत पड़ती, लकड़ियों में मारते ही गति से फासफोरस जल उठता। मूर्ख उनको करामाती कहने लगते। दूसरे गप जो कि अपने आचार्य की प्रतिष्ठा कराने के लिये चेला उडाते थे।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०।८१॥

(शब्दार्थ) (यत्) जो ब्रह्म। (एव) ही। (इह) इस जन्म में। (तत्) वही ब्रह्म। (अमुत्र) अगले जन्म में प्रकाश करनेवाला। (यत्) जो। (अमुत्र) अगले जन्म में होगा। (तत्) वही। (अनु) अनुकूल। (इह) इस जन्म में। (मृत्योः) मृत्यु से। (सः) वह मनुष्य। (मृत्युम्) मृत्यु को। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (यः) जो। (इह) आत्मा में। (नाना) एक से अधिक। (एव) ही। (पश्यति) देखता है।

(अर्थ) जैसा परमात्मा इस जन्म में है, वैसा ही अगले जन्म में दृष्टि आवेगा, और एक रस होने के कारण जैसा अगले जन्म में होगा। वैसा ही इस जन्म में है। वह मनुष्य बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है, जो उस आत्मा के भीतर नाना प्रदार्थों को देखता है। क्योंकि आत्मा से सूक्ष्म परमात्मा के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। और स्थूल वस्तु सूक्ष्म में प्रविष्ट नहीं हो सकती। जो आत्मा में अधिक पदार्थों को देखता है, उसने आत्मा को जाना ही नहीं, वह आत्मा किसी और पदार्थ को समझ रहा है। जिसके भीतर उसे बहुत सी वस्तुएँ दृष्टि आती हैं, नहीं तो आत्मा में कोई अन्य पदार्थ प्रविष्ट ही नहीं हो सकता। जब किसी दूसरी वस्तु को आत्मा समझा तो यह अविद्या ने घेरा है, उसका बार-बार जन्म होना ज़रूरी है।

प्रश्न—मनुष्य तो इस स्थान में यह अर्थ लेते हैं कि जो इस

संसार में एक से अधिक वस्तु को जानता है, तुम आत्मा के भीतर किस प्रकार अर्थ लेते हो।

उत्तर—इस वल्ली की पहली श्रुति से ही यह प्रकरण चल रहा है कि वह बाहर की ओर देखता है, आत्मा के भीतर नहीं। इस कारण यहाँ के अर्थ आत्मा के भीतर से ही हैं।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥
११।८२॥

(शब्दार्थ) (मनसा) मन के द्वारा से। (एव) ही। (इदम्) इस आत्मा को। (आप्तव्यं) प्राप्त कर सकते हैं। (न) नहीं। (इह) इस आत्मा के भीतर। (नाना) एक से अधिक। (अस्ति) है। (किंचन) कुछ भी। (मृत्योः) मौत से। (स) वह मनुष्य। (मृत्युम्) मौत को। (आप्नोति) प्राप्त करता है। (यः) जो। (इह) आत्मा के अन्दर। (नाना) एक से अधिक। (एव) ही। (पश्यति) देखता है।

(अर्थ) वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है, सिवाय मन के जीवात्मा और परमात्मा के देखने का कोई हेतु नहीं। इस आत्मा के अन्दर सिवाय परमात्मा के कोई दूसरी वस्तु नहीं। वह मनुष्य बार-बार मौत के दुःख को भोगता है, जो यहाँ अर्थात् आत्मा में एक से अधिक वस्तुओं को देखता है।

प्रश्न—श्रुति ने तो केनोपनिषद् में यह कहा है कि वह परमात्मा मन से मनन नहीं किया जाता, किन्तु मन उसकी शक्ति से विचार करता है। आप कहते हैं मन ही से जाना जाता है।

उत्तर—मन की दो अवस्था हैं। एक मल विक्षेप, और आवरण दोष से युक्त मन, दूसरे इन दोषों से रहित मन। इन दोषों से युक्त मन से उसको नहीं जान सकते। इन दोषों से

रहित मन से वह जाना जाता है, जैसे आँख और आँख के सुरमा को देखने के लिए दर्पण ही एक साधन हैं। बिना दर्पण के आँख के सुरमा को नहीं देख सकते, परन्तु अँधेरी रात्रि में दर्पण से भी नहीं देख सकते। या जब दर्पण मैला अर्थात् साफ़ न हो या दर्पण स्थिर न हो, किन्तु तेज गति से हिल रहा हो, या दर्पण पर कोई परदा पड़ा हो, तो उस दशा में दर्पण से भी आँख और आँख के सुरमा को नहीं देख सकते।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।
एतद्वै तत्॥ १२। ८३॥

(शब्दार्थ) (अंगुष्ठमात्र) अँगूठा के अनुमान और रोहे का आकाश है, जिसमें जीव को ज्ञान हो सकता है। (पुरुषः) परमात्मा। (मध्ये) मध्य में। (आत्मनि) जीवात्मा के। (तिष्ठति) रहता है। (ईशानः) स्वामी प्रबन्ध में रखनेवाला। (भूतभव्यस्य) बीते हुए और आगे का। (न) नहीं। (ततः) उससे। (विजगुप्सते) निकृष्ट दशा को पहुँचता। (एतद्वै तत्) ब्रह्म यही हैं, जिसकी बाबत प्रश्न किया था।

(अर्थ) मनुष्य के रोहे में जो एक अँगूटे के समान स्थान है, उस स्थान पर जीवात्मा के दर्शन हो सकते हैं। वह परमात्मा जो कि भूत और भविष्यत् का स्वामी है, जिसको जानने के पश्चात् मनुष्य को फिर ऐसी अवस्था में नहीं जाना पड़ता, जिसमें अपने से घृणा हो। प्रायः मनुष्य को पाप करने के पश्चात् जब वेग उतर जाता है, तो अपने कर्म से घृणा करता है और अपने मन में अपने निकृष्ट जीवन पर शोक करता है परन्तु जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, वह पाप नहीं कर सकते। पाप उसी समय तक हो सकता है, जब तक दण्ड देनेवाली शक्ति की सत्ता निश्चय न हो। जबानी

चाहे मानते ही हों अथवा उस दशा में हो सकता है कि परमात्मा को एक देशी जानने के कारण उस स्थान पर मौजूद होने का निश्चय न हो । या उस दशा में जब कि किसी सत्ता का विश्वास हो जो कि पाप करने के पश्चात् भी हमें बचा सकती हो ।

प्रश्न—क्या जीवात्मा और परमात्मा अँगूठे के बराबर हैं, जैसा कि श्रुति से प्रकट है।

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा अँगूठे के बराबर नहीं, क्योंकि आत्मा शब्द से ही प्रकट है। किन्तु जिस स्थान पर उसको देख सकते हैं, वह रोहे का आकाश है, अँगूठे के बराबर है ।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उ श्वः ।
एतद्वै तत् ॥ १३ । ८४ ॥

(शब्दार्थ) (अंगुष्ठमात्रः) वह अँगूठे के बराबर स्थान में दृष्टि आनेवाला (पुरुषः) जीवात्मा या परमात्मा। (ज्योति रिव) ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित। (अधूमकः) धुएँ से पृथक् शुद्ध। (ईशानः) स्वामी। (भूतभव्यस्य) भूत भविष्यत् सम्पूर्ण पदार्थों का। (एव अद्य) वही आज सारे जगत् का स्वामी है। (स उश्वः) वह सबका स्वामी होगा। (एतद्वैतत्) यह वही ब्रह्म है ।

(अर्थ) अँगूठे के बराबर जगह में दृष्टि आनेवाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा ऐसी ज्योति अर्थात् प्रकाश है कि जिसको कभी धुवाँ (धूम्र) ढाँप ही नहीं सकता। जिसमें किसी प्रकार का मल नहीं, वही भूत और आनेवाली वस्तुओं का स्वामी है। न तो पहले कोई ऐसी वस्तु हुई है, जिसका वह स्वामी न हो, न आगे कोई ऐसी वस्तु पैदा होगी, जिस पर उसका अधिकार न हो । वही सारे जगत् का स्वामी है। बड़े

से बड़े राजे-महाराजे उसके वारन्ट मौत को टाल नहीं सकते। नास्तिक से नास्तिक को भी उसके नियम के सामने शीश झुकाना पड़ता है। आज वह संपूर्ण पदार्थों का स्वामी है; कोई भी ऐसा पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस पर उसके नियम का प्रभाव न हो। सूर्य, चन्द्र, तारे उसके नियम को तोड़ नहीं सकते। वायु, अग्नि, पानी उसके नियम के विरुद्ध चल नहीं सकते। पृथ्वी के बड़े-बड़े योधा अपने भुजबल से उसके वारन्ट मौत को रोक नहीं सकते। बड़े-बड़े मानी उसके दर पर अपने कर्मों का फल भोगने की व्यवस्था के लिये मारे-मारे फिरते हैं। निदान यह वही ब्रह्म है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियम में चला रहा है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति॥

१४। ८५॥

(शब्दार्थ) (यथा) जैसे। (उदकं दुर्गे) गढ़ में कठिनता से प्रवेश करने योग्य, पहाड़ियों का वर्षा हुआ। (पर्वतेषु) पहाड़ों में। (विधावति) दौड़ता अर्थात् वेग से बहता है। (एवम्) इसी प्रकार। (धर्मान्) धर्म से। (पृथक्) अलग। (पश्यन्) देखता हुआ। (तानेव) उसीके गुणों के। (अनुविधावति) उनके पीछे लग जाता है।

(अर्थ) जैसे पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियों पर, जिन पर चढ़ना महा कठिन है, वर्षा हुआ पानी पहाड़ में बह निकलता है। यद्यपि और स्थान पर वर्षा है, परन्तु अपने नीचे की ओर चलनेवाले स्वभाव के कारण दूसरे पहाड़ों, नहीं-नहीं साफ़ मैदान में बह निकलता है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी वस्तु के गुण को उससे अलग देखता है, तो भी वह उन्हीं धर्मों के पीछे दौड़ता है।

आशय यह है, धर्म, धर्मी का अविनश्वर धर्म है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ धर्मी अवश्य होगा। और जहाँ धर्मी होगा, वहाँ धर्म अवश्य होगा। अचेतन प्रकृति का धर्म बन्धन है, चाहे हम प्रकृति को स्वतंत्रता के विचार से पास लावें। तो भी वह बाँध देगी, जैसा कि उसका धर्म है। चाहे परमात्मा की उपासना अज्ञान से ही करें, परन्तु उससे आनन्द अवश्य मिलेगा। जिस वस्तु का जो धर्म है, वह उससे पृथक् नहीं हो सकता। इस कारण जहाँ पाप है उसी जगह भय है। जो पापी न हो, उसे भय नहीं हो सकता। जिस गुण को हम प्राप्त करना चाहें, उसी के गुणों की उपासना करें। मूर्ख, शराबी, क़बाबी गुरु की संगति से हमको ज्ञान और सदाचार नहीं मिल सकता है।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥
१५ । ८६ ॥

(शब्दार्थ) (यथा) जैसे। (उदकम्) जल। (शुद्धे) पवित्र वस्तु में। (शुद्धम्) शुद्ध। (आसिक्तं) भले प्रकार सींचा हुआ। (तादृग) उसी प्रकार का। (एव) ही। (भवति) होता है। (एवम्) इसी प्रकार। (मुनेः) कम बोलने वाले का। (विजानतः) ज्ञानी मनुष्य का। (आत्मा) आत्मा। (भवति) होता है। (गौतम) हे गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ नचिकेता।

(अर्थ) यथा, शुद्ध जल, शुद्ध स्थान पर पहुँचने पर शुद्ध ही होता है, उसमें कहीं से आकर मैल शामिल नहीं हो पाता। इसी प्रकार बहुत थोड़ा बोलनेवाले और ज्ञान से युक्त इन्द्रियों को अपने आधीन रखनेवाले अपने मन, इन्द्रिय और शरीर के दास न बनकर उनसे ठीक-ठीक काम लेते हैं। पूर्ण योगी आत्मा,

हे नचिकेता ! शुद्ध होता है । उसको कोई मल विक्षेप दोष और अहंकार जिससे संपूर्ण मनुष्य दुःख उठाते हैं, आकर नहीं सताते । यह सब दोष उसी समय तक होते हैं, जब तक मन इन्द्रिय के पीछे लगकर आत्मा बाहर की ओर देखता है, और उसी प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों में फँसकर अपने को मन की दशा में अनुभव करता है । आत्मा को तो कोई कष्ट हो ही नहीं सकता, क्योंकि नित्य है और प्रकृति से सूक्ष्म है । नित्य होने से, उसको नाश का भय नहीं और प्रकृति से सूक्ष्म होने से प्रकृति का गुण परतंत्रता उसमें जा नहीं सकती । परतंत्रता अर्थात् दुःख मन में होता है, अविद्या से आत्मा उसको अपने में स्वीकार कर लेता है । जैसे किसी का मकान कलकत्ता में है और वह जल जाता है । जिस समय उसे खबर होती है वह अहंकार से कहता है कि शोक ! मेरा सत्यानाश हो गया । यद्यपि उसका कुछ नहीं बिगड़ा । यदि जिस मकान में वह रहता है, उस मकान में आग लगती, तो कह भी सकते थे कि मेरी कुछ हानि हुई ; मुझे रहने में कष्ट हुआ । मकान कलकत्ता में, आप लाहौर में । फिर मकान के जलने से उसे क्या कष्ट ? अतः मन शुद्ध होने की दशा में आत्मा बाहर की ओर नहीं देखता, क्योंकि उस समय उसे अन्दर का फोटू दृष्टि पड़ता है । और अशुद्ध होने की दशा में अन्दर से तो कुछ दृष्टि नहीं पड़ता, बाहर से ही देखता है । इस कारण बाहर की ओर इन्द्रियों को चलाता हुआ दुःख पाता है । इसलिये निष्काम परोपकार करके मन को शुद्ध करना चाहिये ।

इति द्वितीयाध्याये प्रथमा वल्ली ।

अथ द्वितीया वल्ली

पुरमेकादशद्वारम् जस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ।
एतद्वैतत् ॥ १ । ८७ ॥

(शब्दार्थ) (पुरम्) पुर जो कुछ भोगने का स्थान हो अर्थात् शरीर । (एकादशद्वारम्) जिसके ११ दरवाजे हैं। (अजस्य) जो किसी कारण से उत्पन्न न हुआ, अर्थात् नित्य जीवात्मा। (अवक्रचेतसः) जिसका ज्ञान उलटा नहीं। (अनुष्ठाय) अपने धर्म को ठीक प्रकार पालन करके। (न) नहीं। (शोचति) शोच करता है। (विमुक्तश्च) तीन आश्रमों के तीन प्रकार के ऋण से छूटा हुआ। (विमुच्यते) शरीर से भी छूट जाता है। (एतद्वैतत्) यही ब्रह्म-ज्ञान का फल है।

(अर्थ) मनुष्य के शरीर के ग्यारह दरवाजे हैं, दो आँखें, दो नासिका, दो कान, मुँह एक, मस्तक में एक, नाभि एक, गुदा एक, उपस्थ इन्द्रिय एक, कुल एकादश दरवाजा हैं। इस ग्यारह दरवाजे वाले नगर में यह जीवात्मा शासन करता है। यदि जीवात्मा का ज्ञान उलटा न हो अर्थात् अविद्या में लिप्त न हो, तो अपने वर्णाश्रम धर्म को ठीक-ठीक करता हुआ शोक नहीं करता; किन्तु सब प्रकार के ऋणों से मुक्त हो जाता है, तो शरीर के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम के नियमपूर्वक करने के बाद संन्यास आश्रम के धर्म पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस शरीर में जिसका ज्ञान मिथ्या हो उसके लिये यही राजधानी कारागार हो जाती है। क्योंकि वह बजाय शरीर, इन्द्रियाँ और मन पर शासन करने के उनके आधीन हो जाता

है। ब्रह्म-ज्ञान का यही फल है। अतः जीवात्मा शरीर को राजधानी बना लेता है। ज्ञानी को इस शरीर से किसी प्रकार की विपत्ति नहीं होती, क्योंकि यह सब उसके आधीन होते हैं। और ज्ञानी के लिये यह शरीर और इन्द्रियाँ मन सब के सब दुःख देनेवाले हो जाते हैं, क्योंकि उस पर शासन करते हैं। बात स्पष्ट है कि यदि आदमी घोड़े पर सवार हो और घोड़ा वश में हो, तो मार्ग पर पहुँचा देता है। यदि घोड़ा बे-वश हो तो पग-पग पर गिरने का भय लगा रहता है। प्रकृति की उपासना से जीव का ज्ञान मिथ्या हो जाता है, जिससे अविद्या उत्पन्न होकर वह दुःख उठाता है। ब्रह्म के ज्ञान से जीव का ज्ञान सीधा होता है, जिससे वह आनन्द भोगता है।

प्रश्न—इस समय तो जो लोग प्रकृति की उपासना करते हैं, वह अधिक सुखी मालूम पड़ते हैं।

उत्तर—दूर से ही सुखी मालूम पड़ते हैं, उनसे मिलकर पूछो तो कभी शान्त नहीं मालूम पड़ेंगे। सम्पूर्ण यूरुप शान्ति की चिन्ता में है, परन्तु प्रकृति उपासना के कारण यूरुप को शान्ति मिल नहीं सकती। लंदन में स्त्रियों के झगड़े, फ्रांस के बलवे, रूस के अन्तर्राष्ट्रीय विप्लव और पुर्तगाल की बेचैनी बताती है कि वहाँ शान्ति और सुख का नाम नहीं। शरीर से मुक्ति प्राप्त होना तो अलग रही, किन्तु वहाँ मनुष्य से ही स्वतंत्रता प्राप्त होना कठिन है। शारीरिक आवश्यकता का बन्धन तो छूटा नहीं, वह तृष्णा के बन्धन में लिप्त हो गए।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदातिथि-
र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा
ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत्॥ २। ८८॥

(शब्दार्थ) (हंसः) जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जानेवाला। (शुचिषत्) शुद्ध परमात्मा में रहने-

वाला। (वसुः) शरीर में बसनेवाला। (अन्तरिक्षसत्) शरीर के मध्य आकाश में दृष्टि आनेवाला। (होता) होम करनेवाला। (वेदिषत्) पृथ्वी में रहनेवाला। (अतिथिः) जिसके आने या शरीर में रहने की कोई तिथि नियत नहीं। (दुरोणसत्) अपने शरीर या आश्रम में रहनेवाला। (नृषत्) मानुषी शरीर में रहनेवाला। (वरसदत् सत्) देव ऋषियों के शरीर में रहनेवाला। (व्योमसत्) आकाश में रहनेवाला। (अब्जा) पानी में रहनेवाले, शरीर में रहनेवाला। (गोजा) थल में रहनेवाले शरीर में रहनेवाला। (ऋतजा) स्वाभाविक अवस्था में रहने वाला। (आद्रिजा) पहाड़ों में होनेवाली योनियों में रहने वाला। (ऋतम्) स्वयम् भी सत्यरूप अर्थात् नित्य। (बृहत्) बड़े उच्च विचारवाला।

(अर्थ) यह जीवात्मा जो एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को जानेवाला है। बाहर की कोई वस्तु भी उसको अपने आधीन नहीं कर सकती। जो सम्पूर्ण शरीरों अर्थात् चींटी से लेकर मनुष्य तक में जानेवाला, जिसका दर्शन शरीर के भीतर केवल रोहे के आकाश में ही हो सकता है। और यज्ञादि कर्मों का करनेवाला और शरीर की भूमि में रहनेवाला जिसकी शरीर में आने जाने की कोई तिथि नियत नहीं, जो किसी मकान में रहने, मुक्ति के लिये केवल मनुष्य शरीर में आने वाला, मुक्ति से लौटकर देव ऋषियों के शरीर में आनेवाला, नित्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में स्थिर होने, तत्वज्ञान के न होने से जल-जन्तुओं के जन्म धारण करनेवाला, भूमि में रहनेवालों के शरीर में जानेवाला, परमात्मा के नियम से उत्पन्न होनेवाला, पहाड़ी जन्तुओं की दशा में उत्पन्न होनेवाला और वास्तव में वह सब विकारों से अलग है। क्योंकि यह सब गुण जीव की उपाधि होती है और वह अहंकार से इनमें दुःख सुख को मानता है और वाह्य प्रभाव उसके भीतर नहीं जा सकता। जब उसको अपने तत्व का ज्ञान होता है

तब सबसे बड़ा ब्रह्म ही उसका उद्देश होता है। सारांश यह कि ज्ञान और अज्ञान के कारण इस जीवात्मा की अनेक दशायें होती हैं। ज्ञान के कारण वह उत्तम दशा में होता है और अज्ञान के कारण वह नीच दशा में होता है। इस कारण ब्रह्म ज्ञान के कारण नीच गति से निकल कर उत्तम-गति को पहुँचता है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३। ८९॥

(शब्दार्थ) (ऊर्ध्वम्) ऊपर ब्रह्माण्ड अर्थात् सर की खोपड़ी में। (प्राणम्) प्राणवायु। (उन्नयति) खींचता है। (अपानम्) अपान वायु जो विष्ठा को निकालता है। (प्रत्यक्) पेट में। (अस्यति) फेंकता है। (मध्ये) नाभि और गले के मध्य। (वामनम्) शुद्धि चेतन उत्तम गुणोंवाला जीवात्मा। (आसीनम्) बैठा हुआ है। (विश्वेदेवा) जगत् को प्रकाशित करनेवाले देवता अर्थात् इन्द्रियाँ। (उपासते) काम करती हैं।

(अर्थ) ऊपर की तरफ़ तो प्राण-वायु गति करता है अर्थात् जो मनुष्य प्राण-वायु को रोकता है वह उन्नति करता है, अथवा बल से बाहर की तरफ प्राणों को फेंकता और अपान वायु बल से नीचे की ओर निकालता है। और गले और नाभि के मध्य जो रोहे का आकाश है, उसमें रहनेवाले जीवात्मा को जो प्रकृति से अधिक गुणवाला है अर्थात् प्रकृति सत् है, और जीवात्मा सत् चित् है और वह सब इन्द्रियों का राजा है। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रजा राजा की आज्ञा का पालन करती है, इसी प्रकार प्राणायाम करनवाले की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा में रहती हैं। और जो मनुष्य प्राणों का जो इन्द्रियों के काम के साधन में नहीं, वश में रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं।

(प्रश्न) प्राणों के रोकने से इन्द्रियों का वश में होना किस प्रकार स्वीकार किया जावे ?

(उत्तर) इन्द्रियाँ मन के आधीन होकर काम करती हैं। जिस ओर मन इन्द्रियों को लगाता है, उसी ओर इन्द्रियाँ काम करती हैं। लोहू की हरकत से हरकत करता है। यदि लोहू की हरकत न हो, तो मन काम नहीं कर सकता। और लोहू की हरकत प्राणों की हरकत के कारण से है। यदि प्राण हरकत न करें, तो शरीर के अन्दर किसी प्रकार का काम नहीं हो सकता।

(प्रश्न) प्राणों की हरकत तो सुषुप्ति में भी जारी रहती है उस समय मन और इन्द्रियाँ क्यों काम नहीं करतीं ?

(उत्तर) मनुष्य का शरीर एक फोटू-ग्राफर का कैमरा है, जिसके भीतर का शीशा मन है; जिस पर चित्र उतरता है। और बाहर का शीशा इन्द्रियाँ हैं। यदि दोनों शीशों के मध्य एक कागज़ का भी परदा लगा दिया जावे तो चित्र नहीं उतरेगा। सुषुप्ति अवस्था में और इन्द्रियों के मध्य तमोगुण का आवरण आ जाता है, इस कारण इन्द्रियों का काम बन्द हो जाता है। परन्तु कर्म इन्द्रियों का काम बन्द नहीं होता, केवल ज्ञान इन्द्रियों का काम बन्द होता है।

(प्रश्न) फिर यह नियम तो न रहा कि प्राणों के रखने से ही अवश्य इन्द्रियाँ रुक जावेंगी, क्योंकि इन्द्रियाँ और प्रकार से भी रुक सकती हैं।

(उत्तर) यह तो नियम है कि इन्द्रियाँ तभी हरकत करेंगी, जब प्राण हरकत करेंगे। इन्द्रियों की हरकत, प्राणों की हरकत के बिना दृष्टि नहीं पड़ती। परन्तु यह नियम नहीं कि जब प्राण हरकत करें तो इन्द्रियाँ अवश्य हरकत करें।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते।
एतद्वै तत् ॥ ४। ६०॥

(शब्दार्थ) (अस्य) इसके । (विस्रंसमानस्य) पृथक् होने की दशा । (शरीरस्थस्य) शरीर में रहनेवाले । (देहिनः) जीवात्मा के । (देहाद्विमुच्यमानस्य) शरीर से पृथक् होने के समय । (किम्) क्या । (अत्र) यहाँ । (परिशिष्यते) शेष रह जाता है । (एतद्वै तत्) यह वही है ।

(अर्थ) जब यह आत्मा शरीर को छोड़ देता है ; क्योंकि यह शरीर जो संयोग से बना है. इसके परमाणुओं का पृथक् पृथक् हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य है । और जब यह शरीर में रहनेवाला जीवात्मा शरीर को त्याग देता है, तो शरीर में कौन सी वस्तु शेष रह जाती है । इस प्रश्न का उत्तर ऋषि ने दिया है, कि वही जीवात्मा है, जो इस शरीर के नष्ट होने से नष्ट नहीं होता ।

(प्रश्न) जब शरीर का नाश होगया, तो जीव का क्यों नहीं नाश होता ।

(उत्तर) नाश के अर्थ कारण में प्रविष्ट हो जाना । जैसे मकान ईंटों के संयोग से बना है, मकान का नाश क्या है ? ईंटों का अलग-अलग हो जाना । जो वस्तु संयोग से उत्पन्न होगी, वह वियोग से नाश हो जावेगी । परन्तु जीवात्मा के परमाणु नहीं, और न वह संयोग से बना है और न उसका कोई कारण है । जब उसका कोई कारण ही नहीं, तो किसमें शामिल हो जावे । जब किसी कारण में शामिल ही न हो, तो नाश कैसे कह सकते हैं ।

(प्रश्न) बहुत से लोग यह कहते हैं कि शरीर के नाश होने के पश्चात् ब्रह्म ही रह जाता है ।

(उत्तर) ब्रह्म तो हर वस्तु के नाश के पश्चात् भी रह जाता है । इसलिये शरीर के नाश के पश्चात् ब्रह्म रह ही जाता है ; इसके सत्य होने में कोई सन्देह नहीं । क्योंकि जो वस्तु पैदा होगी, वह नाश होगी । जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं और

दोनों शरीर के नाश के पश्चात् शेष रहते हैं। अतः दोनों ही अर्थ ठीक हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥५।६१॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (प्राणेन) प्राणों के कारण से। (न) नहीं। (अपानेन) अपान वायु के कारण से। (मर्त्यः) मरनेवाला यह शरीर और जीव से मिला हुआ प्राणी। (जीवति) जीता है। (कश्चन) कोई। (इतरेण) प्राण अपानादि से अलग दूसरी वस्तु है, जिससे। (जीवन्ति) जीते हैं। (यस्मिन्) जिसके। (एतौ) यह प्राण और अपानादि। (उपाश्रितौ) सहारे रहते हैं।

(अर्थ) जो मनुष्य यह विचार करते हैं कि मनुष्य या पशुओं का जीवन प्राणों से नहीं बताते हैं, कोई पशु प्राणों से नहीं जीवित रहता है। और न अपानवायु से जीवन होता है, किन्तु जीवन का कारण प्राण, अपान आदि से पृथक् जीवात्मा है, जिसके सहारे प्राण-इन्द्रियाँ और शरीर स्थिर है। अतः जीव के कारण से जीवन कहलाता है, प्राणों के कारण नहीं।

प्रश्न—जब कि खाना, पीना आदि प्राणों के धर्म हैं और जिन्दा वही कहलाते हैं जिनमें पाचक-शक्ति तथा गति हो, तो प्राणों से जीवन स्वीकार न किया जावे?

उत्तर—प्राण तो हर एक उत्पत्तिवाली वस्तु में है, जिसके कारण से छः विकार, जो सृष्टि को प्रकाशित करनेवाले पाये जाते हैं, परन्तु प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य प्राण जो कुल जगत् में मौजूद हैं। दूसरे विशेष प्राण, जो जीवधारियों में पाये जाते हैं, जिनमें एक प्रकार की चंचलता है; उसमें सामान्य प्राण होते हैं। जिसमें तीन प्रकार की हरकत होती है, उसमें विशेष प्राण होते हैं। इस हरकत को दो प्रकार से विभाजित

किया जाता है—एक चैतन्य इच्छा करनेवाला है, दूसरा प्रबंधक इच्छा रखनेवाला चैतन्य का चिह्न है, करना न करना, उलटा करना, इस इच्छावाले शरीर में पाचन-शक्ति, रक्षा और ज्ञान जो कि जीवन के चिह्न पाये जाते हैं, मौजूद हैं। जिनमें कि सामान्य रूप से प्रबन्ध करने की चेतना मौजूद होती है, उसमें पाचन-शक्ति तो होती ही है, परन्तु उसमें ज्ञान तथा रक्षा नहीं होती है, क्योंकि जीवन का मुख्य तत्वज्ञान तथा रक्षा है। यह दोनों जीव के कारण हैं अर्थात् जीवन का कारण जीव है।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६।९२॥

(शब्दार्थ) हन्त=दया के योग्य नचिकेता। ते=तुझको। इदम्=मौजूदा विषय के अनुकूल। प्रवक्ष्यामि=कहता हूँ अर्थात उपदेश करता हूँ। गुह्यं=जो गुप्त भेद है। ब्रह्म=वेद से प्रकाशित हुआ। सनातनम्=जो सदा से है। यथा=जैसे। मरणं=मौत को। प्राप्य=प्राप्त करके। आत्मा=जीवात्मा। भवति=होता है। गौतम=गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ नचिकेता।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं कि दया के योग्य नचिकेता! मैं तुझको वह उपदेश जो सनातन से वेद ने इस बारे में कहा है कि जीवात्मा मरने के पश्चात् क्या होता है, बताऊँगा। यद्यपि यह विद्या प्रत्यक्ष नहीं जिसको सब लोग जान सकें। जो कि गुप्त भेद है, जिसको आत्म-विद्या के जाननेवाले योगी ही जान सकते हैं, सब की पहुँच नहीं। क्योंकि जो जीवात्मा के स्वरूप को जान जाते हैं वही इस बात को जान सकते हैं कि इस शरीर से निकलने के पश्चात् जीव कहाँ जाता है। जिनको ज्ञान नहीं कि जीवात्मा क्या वस्तु है, द्रव्य है, या गुण है, संयोग है, या अणु-गतिवाला है, या निर्गति नित्य है, या अनित्य स्वभाव से मुक्त। सारांश यह कि आत्म-विद्या से शून्य मनुष्यों के लिये यह विद्या एक गुप्त भेद है।

प्रश्न—नचिकेता पर क्या आपत्ति पड़ी थी? जिसके कारण से यमाचार्य ने उसे दया के योग्य स्वीकार किया।

उत्तर—प्रथम तो नचिकेता के पिता ने इसको मृत्यु को देने को कहा था। दूसरे वह ऐसी विद्या को जानने का इच्छुक था, जिसका मिलना बहुत ही कठिन था। छोटी आयु में इस कठिनता से पूरी होनेवाली इच्छा का पैदा हो जाना, क्या कम आपत्ति थी?

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥७।१३।

(शब्दार्थ) योनिम्=दूसरे शरीर को। अन्ये=जिन लोगों ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। प्रपद्यन्ते=प्राप्त करते हैं अर्थात् दूसरे शरीर में चले जाते हैं। शरीरत्वाय=कर्मों का फल भोगने या आगे के वास्ते कर्म करने को जो शरीर मिलता है, उसके लिये। देहिनः=जीवात्मा। स्थाणुम्=चंचलता रहित। अन्ये=कोई महापापी मनुष्य। अनुसंयन्ति=प्राप्त करते हैं। यथा=जैसा कि उनका। कर्म=कर्म होता है, जैसा कि। श्रुतम्=जैसा कि संस्कार से उत्पन्न ज्ञान होता है।

(अर्थ) ऋषि बताते हैं कि नचिकेता! जिन लोगों को मनुष्य-शरीर में ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उनकी मरने के पश्चात् जो दशा होती है, उसका ज़िक्र तो हो चुका है, शेष वह लोग जिन्होंने मनुष्य का शरीर पाकर भी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं किया, या तो पुनः मनुष्य का शरीर या पशु-पक्षी आदि का जन्म लेते हैं। और जो सब से नीच कर्मवाले जीव हैं, वह ऐसी योनियों को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह स्थाणु रूप होते हैं। निदान जैसा कर्म और ज्ञान होता है, वैसा ही शरीर में जन्म लेते हैं।

प्रश्न—स्थाणु का अर्थ अन्य टीकाकार वृक्षादि की योनि करते हैं तुमने स्थाणु रूप क्यों माना?

उत्तर—कनाड्यादि महर्षि वृक्षों को शरीर नहीं मानते, यथा

प्रशस्तपाद भाष्य से विदित होता है कि वह वृक्षों को विषय मानते हैं और मिट्टी पत्थर की भाँति वर्णन करते हैं और श्रुति शरीर की पूत्यर्थ वर्णन करती है। इस कारण वह अर्थ सत्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—यदि कणवदि ने वृक्षों का विषय स्वीकार कर लिया, तो मनु ने स्पष्ट शब्दों में स्थावर योनि अर्थात् वृक्ष बताया है।

उत्तर—जो अर्थ स्थाणु का है, वही स्थावर का है। यदि कोई हठ से भी कहे कि वृक्षयोनि ही है तो वेद ने स्पष्ट शब्दों में दिखाया है कि सृष्टि दो प्रकार की है। एक भोगनेवाली दूसरी भोग योनि जिसमें जीव है वह चैतन्य सृष्टि भोगता अर्थात् भोगनेवाली कहाती है। जिसमें जीव नहीं वह भोग-सृष्टि है, जो खाने के लिये बनी है, इसी को स्थावर और जंगम को ही जड़ और चैतन्य के नाम से पुकारा गया है। इससे किसी को क्या इन्कार हो सकता है। क्योंकि शाकादि ही खाने के हेतु बनाये गये हैं। इसी विचार से कपिल ने कहा है कि जिसमें चैतन्यता नहीं है, वही भोग-सृष्टि कहलाती है।

प्रश्न—यदि वृक्ष-योनि माना जावे, तो क्या दोष आवेगा?

उत्तर—प्रथम तो वृक्ष में चैतन्य के लक्षण इच्छा को सिद्ध करना होगा। दूसरे यह सिद्ध करना होगा कि वह कर्म-योनि है, या भोग-योनि, या उभय-योनि। तीसरे यह बताना होगा कि वह किस अवस्था में है। चौथे खाने के लिये सृष्टि वृक्षों से पृथक् को सिद्ध करनी होगी। पंचम इसका उत्तर देना पड़ेगा कि दुःख आदि समवाय सम्बंध में या पर सम्बन्ध, निदान इस असत्य सिद्धान्त में इतने दोष हैं कि जिसकी बहस (विचार) यहाँ नहीं कर सकते।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत् ॥ ८। १४ ॥

(शब्दार्थ) (यः) जो । (एषः) यह अन्तर्यामी । (सुप्तेषु) सोये हुओं में । (जागर्ति) जागता है । (कामम्) प्रत्येक अर्थ को पूरा करने के वास्ते । (पुरुषः) सर्व व्यापक परमात्मा । निर्मि- (माणः) सब जगत् को बनाता हुआ । (तदेव) वही । (शुक्रम) जगत् का रचनेवाला बीज है । (तदेव) वही सब से बड़ा अर्थात् ब्रह्म है । (शुक्रम्) वही । (अमृतम्) नाश रहित । (उच्यते) कहाँ जाता है । (तस्मिन्) उस ब्रह्म में । (लोकाः) सूर्यादि लोक । (आश्रिताः) उसके ठहरे हुए । (सर्वे) सब । (तदु) उसके नियम । (न) नहीं । (अत्येति) उल्लंघन कर सकता है । (कश्चन) कोई भी । (एतद्वैतत्) जिस ब्रह्म को तूने पूछा है, वह यही है ।

(अर्थ) वह सर्व अन्तर्यामी परमात्मा जो सम्पूर्ण जीवों की सोने की दशा में भी जागता हुआ उनकी रक्षा करता है ; किन्तु उसको किसी वस्तु की जरूरत नहीं ; तो भी जीवों की जरूरतों के अनुकूल प्रत्येक वस्तु उत्पन्न करता है इस पर भी जब उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते और बहुत से काम उसके विरुद्ध करते हैं। तो भी उन पर से वह दया का हाथ नहीं हटाता और सुषुप्ति देकर उनको सुख देता है। सब जगत् का रचनेवाला है, वही सब से बड़ा है। वह मुक्त स्वरूप है, वह अमृत है, जिसको पीकर मनुष्य अमर होते हैं। जो मनुष्य उसके नियमों के अनुकूल चलते हैं, वह मुक्ति का सुख प्राप्त करते हैं। उसके सहारे सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि सम्पूर्ण लोक बसते हैं। उसने जो एक दूसरे में आकर्षण-शक्ति पैदा कर दी है उसी से बँधे हुए सम्पूर्ण लोक आकाश में ठहरे हैं। जिस प्रकार आदमी का फेंका हुआ पत्थर, जब तक शक्ति साथ रहती है तब तक आकाश में ऊपर की ओर जाता है, जहाँ शक्ति समाप्त

हो गई, नीचे की ओर गिरता है। ऐसे ही प्रत्येक लोक उसकी दी हुई शक्ति से गति कर रहा है। कोई भी लोक उसके नियम को नहीं तोड़ सकता, सब नियम-पूर्वक गति कर रहे हैं। इसी नियम के कारण ज्योतिष बता सकता है कि सहस्र वर्ष के बाद अमुक तिथि को ग्रहण होगा और वह होता है। जिस ब्रह्म के सम्बन्ध में नचिकेता तू ने प्रश्न किया था वह ब्रह्म यही है।

प्रश्न—इस श्रुति में तो यह बताया है कि कोई भी परमात्मा के नियम को तोड़ नहीं सकता। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य रात दिन पाप करते हैं। जिससे साफ़ ज़ाहिर है कि यदि परमात्मा के नियम के विरुद्ध न किया जावे, तो वह पाप कहला ही नहीं। फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है?

उत्तर—एक परमात्मा के नियम में, दूसरे परमात्मा की आज्ञा। परमात्मा के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। यथा परमात्मा का नियम है कि आँख से देखें, कान से सुनें, नाक से सूँघे। कोई नाक से सुन नहीं सकता, कान से देख नहीं सकता, आँख से सूँघ नहीं सकता। परमात्मा का नियम है कि आग ऊपर की ओर चले, कोई मनुष्य आग की लपट नीचे की ओर नहीं चला सकता। सूर्य चन्द्रमा को परिवर्तन नहीं कर सकता। यथा शीतकाल में रात्रि बड़ी और दिवस छोटा है, कोई दिन को बड़ा और रात को छोटी नहीं कर सकता। जब पछवा चलती है, उसको पुरवा नहीं कर सकता। निदान परमात्मा के नियमों के तोड़ने में कोई समर्थ नहीं। आज्ञा तोड़ने में दंड मिलता है। आज्ञानुकूल कर्म करने या न करने में जीव स्वतन्त्र है। यदि आज्ञानुकूल कर्म करते हैं, तो सुख प्राप्त होता है, यदि नहीं करते तो दुःख पाते हैं।

प्रश्न—ईश्वर जीवों को आज्ञा मानने में लाचार क्यों नहीं करता?

उत्तर—आज्ञा के मानने, न मानने में जीवों की ही लाभ

हानि है। इस कारण इसमें कुल जीव स्वतन्त्र हैं। ईश्वर के न्याय और दया इस बात का जिसमें वह स्वतन्त्र हों लाचार करना अन्याय विचार करते हैं।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो,
रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥६।९५॥

(शब्दार्थ) (अग्निः) आग। (यथा) जैसे। (एक) एक है। (भुवनम्) उत्पन्न हुई, संयोग वस्तुओं में। (प्रविष्ट) प्रवेश होकर। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) उस ही रूपवाली। (बभूव) होती है। (एक) एक। (तथा) ऐसे ही। (सर्वभूतान्तरात्म) सम्पूर्ण वस्तुओं के अन्दर व्यापक होनेवाला आत्मा है। (अर्थात्) ब्रह्म। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) उस ही रूपवाला है। (बहिश्च) और सब रूपों के बाहर भी है।

(अर्थ) जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु के भीतर एक ही अग्नि मौजूद है और जिस आकार की वस्तु है, उसी आकार की मालूम होती है, क्योंकि अग्नि का अपना कोई आकार नहीं। प्रत्येक आकार में जो रूप दृष्टि पड़ता है, वह अग्नि के भीतर होने का प्रमाण देता है, अर्थात् आकार से रहित अग्नि प्रत्येक आकार को प्रकाशित न करनेवाली है। प्रत्येक वस्तु में व्यापक होनेवाला परमात्मा जिससे रहित कोई वस्तु ही नहीं जो सूक्ष्म से सूक्ष्म में भी विद्यमान है। संयोग वस्तु से असंयोग वस्तु नहीं।

परमात्मा असंयोग वस्तु और आकाश से भी अति सूक्ष्म है, इस कारण वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु अर्थात् गुण के भीतर भी विद्यमान है। जिस प्रकार परमाणु में आकाश नहीं रह

परमात्मा असंयोग वस्तु और आकाश से भी अति सूक्ष्म है, इस कारण वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु अर्थात् गुण के भीतर भी विद्यमान है। जिस प्रकार परमाणु में आकाश नहीं रह सकता, परन्तु उसके गुण विद्यमान होते हैं। और जहाँ गुण हों, वहाँ परमात्मा विद्यमान होगा। यह आवश्यक नहीं कि जहाँ आकाश हो वहीं परमात्मा हो। किन्तु वह ऐसे परमाणुओं में भी जिनमें आकाश नहीं रह सकता, विद्यमान है और बाहर भी है। परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर ही होता, तो वस्तुएँ परमात्मा से बड़ी होतीं; क्योंकि छोटी वस्तु के बड़ी वस्तु भीतर हो सकती है। अतः वह प्रत्येक वस्तु के बाहर भी है, वह सब की ओर है, उसकी और कोई नहीं। अर्थात् वह सबके भीतर बाहर है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपंरूपँ प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपंरूपँ प्रति रूपो बहिश्च ॥१०।९६॥

(शब्दार्थ) (वायुः) जिसमें उठाकर चलने की शक्ति है। (यथा) जैसे। (एकः) एक ही। (भुवनम्) उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं में। (प्रविष्टः) प्रवेश करके। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) वैसे ही रूपवाली। (बभूव) होती है। (एकः) एक। (तथा) ऐसे ही। (सर्वभूतान्तरात्मा) सम्पूर्ण जीवों में रहनेवाला आत्मा। (रूपंरूपम्) प्रत्येक रूप के साथ। (प्रतिरूपः) उसही रूपवाला होता है। (बहिश्च) बाहर भी है।

(अर्थ) प्रत्येक संयुक्त वस्तु में हवा प्रवेश करके उस ही आकार की मालूम होती है। क्योंकि वायु का कोई आकार नहीं, वह जिस पकार की वस्तु में रहती है, वैसा ही उसका

आकार होता है। यदि मकान आयताकार है, तो उसमें रहने-वाली वायु भी उस ही आकार की होगी। यदि मकान वर्गक्षेत्र है, तो वायु भी वैसी होगी। यदि मकान गोल है, तो वायु भी गोल होगी। जैसे वायु प्रत्येक वस्तु के साथ उसही आकार-वाली मालूम होती है। आत्मा परमात्मा की भी यही दशा है, कि वह जिस वस्तु में रहते हैं, उसही शक्ल में रहते हैं; क्योंकि उनकी अपनी कोई शक्ल नहीं। यदि वस्तु के भीतर ही होते तो उसी आकारवाला कह सकते थे। परन्तु वह हवा प्रत्येक वस्तु से बाहर भी है ऐसे ही आत्मा भी इस जगत् के भीतर बाहर होने से जगत् के आकारवाला नहीं कहला सकता।

प्रश्न—परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर तो कहा जा सकता है, परन्तु बाहर कैसे मान सकते हैं।

उत्तर—यदि परमात्मा जगत् के भीतर ही हो, तो वह सब से बड़ा ब्रह्म नहीं कहला सकता और न परमात्मा। क्योंकि व्यापक और व्याप्य में यही अन्तर होता है। व्याप्य सदा वस्तु के भीतर ही होता है, जैसे लोहे के टाँके में पानी मौजूद हो और व्यापक वह है जो भीतर बाहर सब ओर हो जैसे लोहे के बरतन में आग, वह भीतर बाहर दोनों ओर होगी, यदि आग दोनों ओर न हो तो बरतन बाहर से छूने में गरम न हो।

प्रश्न—लोहे के बरतन से बाहर तो आकाश रहता है, इस कारण आग भीतर बाहर दोनों ओर रह सकती है। परन्तु आकाश के बाहर क्या वस्तु है जिसके भीतर रहने से परमात्मा को आकाश में व्यापक अर्थात् आकाश के भीतर बाहर रहनेवाला स्वीकार किया जावे।

उत्तर—जो बरतन होगा वह बरतन में रहनेवाली वस्तु से बड़ा मानना पड़ेगा। लोहे के बरतन का प्रवेश-स्थान आकाश है, अतएव आकाश लोहे के बरतन से बड़ा है। परन्तु परमात्मा आकाश से भी बड़ा है, इसलिये वह आकाश से बाहर भी होगा। जिस प्रकार बरतन के भीतर बाहर दोनों ओर

आकाश है। यदि कहा जावे कि आकाश किसके भीतर है? तो सब वस्तुओं के भीतर बाहर कहेंगे। यदि कोई कहे वस्तुओं से बाहर आकाश किसमें रहता है। यदि कहो अपने में, तो यह उत्तर परमात्मा के लिये भी जो आकाश के बाहर है, दिया जा सकता है। परन्तु इसमें आत्माश्रय दोष है, क्योंकि आप ही वह व्यापक और व्याप्य होता है; लेकिन व्यापक का व्याप्य से छोटा होना उचित है। और एक छोटा बड़ा दोनों नहीं हो सकते इस कारण व्यापक और व्याप्य के नियम अनुभव तक हैं। परमात्मा सबसे बड़ा है, इस कारण सब उसके अन्दर हैं, वह सब से सूक्ष्म होने के कारण, सब के अन्दर है। न कोई उससे सूक्ष्म है और न कोई बड़ा है, जिसके अन्दर वह हो!

सूर्योयथा सर्वलोकस्य चक्षु, र्न लिप्यते।
चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११।९७॥

(शब्दार्थ) (सूर्यः) सूर्य। (यथा) जैसे। (सर्वलोकस्य) सब संसार का। (चक्षुः) नेत्र। (न) नहीं। (लिप्यते) लिप्त होता है। (चक्षुषैः) आँखों के। (बाह्यः दोषैः) बाहिरी दोषों से अर्थात् जो दोष नेत्रों में होते हैं, वह सूर्य में नहीं आ सकते। (एकः) एक। (तथा) तैसे ही। (सर्वभूतान्तरात्मा) सब दुनियाँ के जीवों में रहनेवाला परमात्मा। (न) नहीं। (लिप्यते) फँसता है। (लोकदुःखेन) दुनियाँ के दुखों से। (बाह्यः) बाहर है।

(अर्थ) जब यह कहा गया कि परमात्मा प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, कोई वस्तु उससे खाली नहीं। तो उस समय यह शंका उत्पन्न हुई कि क्या वह विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं में भी विद्यमान है या नहीं। यदि है, तो क्या उसको दुर्गंधादि

से कष्ट न होता होगा। हम एकदम दुर्गन्ध-युक्त वस्तु के पास जाने से घबरा जाते हैं। वह इन अपवित्र और दुर्गंध-युक्त वस्तुओं में किस प्रकार रहता होगा। इसके उत्तर में बताया कि जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण जगत् की आँख अर्थात् देखने का कारण है, परन्तु आँखों का सहायक होने पर भी जो बीमारी आदि दोष आँख में होते हैं, वह सूर्य में नहीं आते। इसी प्रकार परमात्मा सब जगत् में विद्यमान है, परन्तु संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता। और जो कुछ संसार में दोष हैं, वह स्थूल हैं। अतः स्थूल वस्तु सूक्ष्म वस्तु से बाहर रह सकती है, भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। जब भीतर प्रविष्ट न हो, तो क्या हानिकर हो सकती हैं। निस्संदेह परमात्मा हर बुरी से बुरी वस्तु में भी सर्वव्यापक होने से विद्यमान है, परन्तु इस नियम के कारण से कि स्थूल वस्तु में सूक्ष्म के गुण जा सकते हैं, क्योंकि गुण और गुणी का समवाय संबंध है, जहाँ गुणी जावेगा, वहाँ गुण जावेगा। कोई गुण अपने गुणी को छोड़कर जा नहीं सकता। यह नियम है कि स्थूल द्रव्य सूक्ष्म द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता। अतः उसके गुण भी वहाँ नहीं जा सकते। पानी में आग प्रवेश करके पानी को गरम कर सकती है, परन्तु आग में पानी प्रवेश करके आग को ठंढा नहीं कर सकता। इसी प्रकार पृथिवी आदि स्थूल वस्तु के गुण परमात्मा के भीतर नहीं जा सकते और न स्थूल पदार्थ का प्रभाव सूक्ष्म पर होता है। इसलिये सम्पूर्ण जगत् के भीतर रहता हुआ भी परमात्मा जगत् के दुःखों से युक्त नहीं हो सकता।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा,
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा,
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१२।६८॥

(शब्दार्थ) (एकः) वह परमात्मा एक है। (वशी) व्यापक है। (सर्वभूतान्तरात्मा) सब वस्तुओं में रहनेवाला अर्थात् व्यापक है। (एकम्) एक जगत् के कारण। (रूपम्) रूप को। (बहुधा) बहुत प्रकार से। (यः) जो। (करोति) करता है। (तम्) उस। (आत्मस्थम्) आत्मा में रहनेवाले को। (यः) जो। (अनुपश्यन्ति) अनुभव करते या भीतर देखते हैं। (धीराः) जीवात्मा बुद्धिमान् पुरुष। (तेषाम्) उन पुरुषों को। (सुखम्) सुख। (शाश्वतम्) क़ायम रहनेवाला। (न) नहीं। (इतरेषाम्) अन्य को।

(अर्थ) यह वह श्रुति है, जो सब मतों को एक करके परमात्मा की पूजा में लगाती है। जो युक्ति-पूर्वक अद्वैतवाद का उपदेश करती है। सांसारिक मतों में केवल आठ झगड़े हैं, जिनको दूर करके वह श्रुति सबको एक करती है; वह आठ झगड़े यह हैं-(१) बहुत से लोग कहते हैं कि जगत् ईश्वर है, बहुत से कहते हैं नहीं, यह आस्तिकों और नास्तिकों का झगड़ा है। (२)-दूसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर एक है या अनेक हैं, बहुत एक मानते हैं, बहुतेरे तीन से लेकर २४ तक मानते हैं। यह दूसरा झगड़ा अद्वैतवादी और द्वैतवादियों का है। (३)-तीसरा झगड़ा कि ईश्वर कहाँ है, कोई चौथे आसमान पर, सातवें आसमान पर, बैकुण्ठ, क्षीरसागर, गोलोक, ब्रह्मलोक, कैलाश, मोक्षशिला आदि यह ईश्वर के स्थान का झगड़ा एक देशी माननेवालों में है। (४) चौथा झगड़ा कि ईश्वर कर्मों का फल किस प्रकार देता है, कोई कहता है कि ईश्वर कर्मों का फल देता ही नहीं, कहता है, चित्रगुप्त वहीं लिखता रहता है, कोई मुनकरोनकीर दो फ़रिश्ते मानता है, यह झगड़ा कर्म का फल देने में पड़ा हुआ है। (५) पंचम झगड़ा कि ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से उत्पन्न किया, कोई कहता है कि ईश्वर ने उत्पन्न ही नहीं किया, कोई कहता है कि कुन के कहने से उत्पन्न हो गया, कोई कहता है प्रकृति से उत्पन्न हुआ। इस पर

भी बहुत झगड़े हैं। (६) छठा झगड़ा है, जीव, ब्रह्म में भेद है अभेद कोई कहता है, केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, आदि से मानता है। (७) सप्तम झगड़ा यह है अनादि पदार्थ कितने हैं; कोई एक, कोई तीन; निदान ७८ तक माननेवाले मिलते हैं, बहुत से कुल पदार्थों को अनादि मानते हैं। (८) अष्टम विवाद यह है कि मुक्ति किस प्रकार होती है; कोई ज्ञान से, कोई स्नान से, कोई कफ्फारा से कोई शफ़ाअत से। इन झगड़ों की श्रुति ने निर्णय कर दिया है। प्रथम झगड़े का उत्तर दिया है, कि जगत् कर्त्ता ईश्वर एक है। एक कहने से दो प्रश्नों का उत्तर हो गया। "नहीं" का उत्तर "है" शब्द से और "बहुतों" का उत्तर एक से। अब प्रश्न हुआ कि यदि एक है, तो कारण क्या है? उत्तर मिला कि व्यापक होने से सर्वव्यापक बहुत हो ही नहीं सकते। क्योंकि दो सर्वव्यापक स्वीकार किये जावें, तो यह असम्भव है कि यह नियम सूक्ष्म और स्थूल में हो सकता है, या छोटे बड़े में। बराबरी में छुटाई बड़ाई नहीं॥

यदि आधे-आधे व्यापक स्वीकार किये जावें, तो वह सर्वव्यापक नहीं। जब सर्वव्यापक कहा, तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सर्वत्र किस प्रकार है और उसके होने का क्या प्रमाण है। उत्तर मिला, सब के भीतर आत्मा की भाँति है। जिस प्रकार हमारे शरीर के नियम के अनुकूल गति जीवात्मा के विद्यमान होने का क्या प्रमाण है। इसी प्रकार संसार के भीतर जो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे नियम-पूर्वक गति कर रहे हैं, जिस नियम के गणित को जानने से प्रथम बता देते हैं कि अमुक अमुक मास में अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा। यह नियम पूर्वक गति परमात्मा की सत्ता का प्रमाण दे रही है। अतः सब में व्यापक परमात्मा ही सब के कर्मों का फल देते हैं बिना कर्म-फल देने वाले के तो कर्म-फल हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—क्यों न मान लें चित्रगुप्त हिसाब लिखता है, अथवा मुनकरोनकीर लिखते हैं।

उत्तर—किसी मुन्शी, नायब, एजंट का होना एक देशी होने के कारण सम्भव हो सकता है। बतलाओ अनन्त परमात्मा कहाँ नहीं, जहाँ उसका एजंट, पैग़म्बर, रहकर काम करे। यह सब तो एक देशी मानने के कारण से हुए। परमात्मा अनन्त है, इसलिये इनकी आवश्यकता नहीं। लिखना, भूल की बीमारी की चिकित्सा है। यदि परमात्मा में भूल होती तो उसके एजन्ट या मन्त्री या फ़रिश्ते या चित्रगुप्त हिसाब लिखते। जब उसमें भूल ही नहीं, तो लेखक की क्या आवश्यकता है। पंचम प्रश्न के उत्तर में कहा कि वह प्रकृति से जगत् को रचता है। बहुत से लोग कहेंगे, यह क्यों न मान लिया जावे कि उसने कुन कहा कि जगत् पैदा हो गया। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कुन किससे कहा। सामने जब तक कोई न हो, तो किससे कहें। बहुत से मनुष्य कहेंगे कि यह क्यों न मान लिया जावे कि जगत् ऐसा ही अनादि चला आता है। इसका उत्तर यह है कि कोई विकारवाली वस्तु अनादि हो नहीं सकती। छठे प्रश्न के उत्तर में कि जीव और ब्रह्म में भेद है, जीव के भीतर भी ब्रह्म व्यापक है, वह आत्मा में रहनेवाला परमात्मा है। सप्तम प्रश्न के उत्तर में कहा कि तीन पदार्थ अनादि हैं, एक देखनेवाला जीवात्मा, जिसको धीर कहा गया। दूसरे जिसको देखता है अर्थात् प्रकृति। तीसरे जिसको उसके भीतर देखता है अर्थात् ब्रह्म, जीव, ब्रह्म-प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं। आठवें प्रश्न के उत्तर में कि मुक्ति किसकी होती है। कहते हैं कि जो ईश्वर को एक सारे जगत् में व्यापक अर्थात् अनन्त सब का अन्तर्यामी, कर्मों का फलदाता प्रकृति से जगत् के रचयिता, जीव ब्रह्म का भेद तीन पदार्थ अनादि मानते हैं, उन्हीं की मुक्ति होती है, अन्य की नहीं।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धी-

तस्तेषाम् शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।१३।६६।।

(शब्दार्थ) (नित्यः) एक रस रहनेवाला। (नित्यानाम्) नित्य रहनेवालों में। (चेतनः) ज्ञानवाला है। (चेतनानाम्) ज्ञान वालों में भी। (एकः) एक। (बहूनाम्) बहुतों के। (यः) जो। (विदधाति) देता है। (कामान्) आवश्यकताओं को। (तम्) उस। (आत्मस्थम्) आत्मा में रहनेवालों को। (यः) जो। (अनुपश्यन्ति) अनुभव करते हैं। (धीराः) बुद्धिमान् जीव। (तेषाम्) उन्हें। (शान्तिः) शान्ति। (शाश्वती) नियत रहनेवाली मिलती है। (न) नहीं। (इतरेषाम्) दूसरों को।

(अर्थ) जो नित्य पदार्थों में नित्य है, क्योंकि प्रकृति में विकार होते हैं, इसलिये उसकी अवस्था उत्पन्न होती है। जीव को योनियों में जाना पड़ता है, जिसके कारण से उसके साथ जन्म का शब्द आ जाता है। परन्तु परमात्मा एक रस है, न उसमें विकार है, न अवस्था। इसलिये वह नित्यों में भी नित्य है, और वह चेतन्यों अर्थात ज्ञानवालों में भी ज्ञानी है अर्थात सर्वज्ञ है। दूसरों में अल्पज्ञता के कारण किसी वस्तु के न जानने से अज्ञान का शब्द आ सकता है। परन्तु वह सर्वज्ञ है, अतः वह ज्ञानवालों में भी सर्वोत्तम ज्ञानवाला है। वह एक है, परन्तु सब जीवों की आवश्यकता को पूर्ण करता है। अर्थात् प्रत्येक को, वह पदार्थ जिन पर जीवन निर्भर है, देता है। इस आत्मा में रहनेवाले का जो जीवात्मा मन का तीन दोष अर्थात मल, विक्षेप और आवरण दोष को दूर करके देखते हैं। जिस प्रकार आँख में रहनेवाले सुरमा को देखने के लिये शीशा, प्रकाश, शीशे की शुद्धता और शीशे की स्थिरता और आवरण से शून्य होना अत्यावश्यक है। इसी प्रकार आत्मा में रहनेवाले परमात्मा को देखने, मन और ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा ज्ञान के प्रकाश का प्राप्त करना और गृहस्थाश्रम में निष्काम परोपकार

करके, मन को समस्त मल से, जो औरों को हानि पहुँचाने के विचार से उत्पन्न होता है, दूर करना और वानप्रस्थाश्रम में वैराग्य प्राप्त करके या योग के अङ्गों के अभ्यास से मन की चंचलता को रोक कर संन्यासाश्रम से अहंकार के परदा को दूर करके जो अपने आत्मा में रहनेवाले ब्रह्म को लेते हैं, उन्हीं को नित्य रहनेवाली शान्ति प्राप्त होती है। जिन्होंने उन आश्रमों द्वारा मन के दोष दूर न किये हों, उनको शान्ति प्राप्त नहीं होती।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथन्तु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ।१४।१००।

(शब्दार्थ) (तत्) उसको। (एतत्) इस विधान से। (मन्यते) मानते हैं। (अनिर्देश्यं) जो किसी प्रकार यह है नहीं कहा जा सकता। (परमम्) सर्वोत्तम। (सुखम्) सुख स्वरूप परमात्मा। (कथन्तु) किस प्रकार से। (तत्) उसको। (विजानीयाम्) मैं जान सकूँ। (किमुभाति) क्या वह प्रकाश का कारण है। (विभाति वा) अथवा प्रकाशक है?

(अर्थ) जब कि सम्पूर्ण मनुष्य उस सुख स्वरूप परमात्मा को किस प्रकार से यह है, ऐसा संकेत करके कहा नहीं जा सकता। ऐसा मानने में अन्यों को यह कहते हुए कि यह ब्रह्म नहीं, वह ब्रह्म नहीं, इस प्रकार से प्रकाशित करते हैं। क्योंकि ब्रह्म सबसे अधिक सूक्ष्म है, उसके प्रत्यक्ष करने को ऐसा कोई कारण नहीं कि जिससे उसको बता सकें। नचिकेता ने कहा कि ऐसी दशा में उसको मैं किस प्रकार जान सकूं कि प्रकाश का साधन है, जिससे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और वह स्वयं प्रकाशित हो रहा है। वह क्या वस्तु है, ऐसा मुझे ज्ञान किस प्रकार हो। उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य
भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५।१०१ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (तत्र) उस ब्रह्म में। (सूर्यः) सूर्य। (भाति) प्रकाश करता। (न) नहीं। (चन्द्र तारकं) चन्द्रमा तारे। (न) नहीं। (इमाः) यह। (विद्युतः) बिजुली। (अयम्) यह। (अग्निः) अग्नि। (तमेव) उसी के। (भान्तम्) प्रकाश से। (अनुभाति) प्रकाशित होता है। (सर्वम्) सब सूर्य, चन्द्र, तारे आदि। (तस्य) उसके। (भासा) प्रकाश से। (सर्वम्) सब कुछ। (इदम्) यह जगत्। (विभाति) प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है।

(अर्थ) परमात्मा के दिखाने को सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सूर्य का प्रकाश स्थूल होने से आत्मा के भीतर जा ही नहीं सकता और परमात्मा का दर्शन आत्मा में होगा। जब सूर्य का प्रकाश आत्मा के भीतर नहीं दिखला सकता, तो परमात्मा कैसे दिखला सकता है। चन्द्रमा का प्रकाश भी उस स्थान में काम नहीं देता, क्योंकि वह भी आत्मा से स्थूल है। तारों की भी यही दशा है। विद्युत् का प्रकाश भी परमात्मा को दिखा नहीं सकता, फिर अग्नि के प्रकाश से कैसे देख सकते हैं। उसी परमात्मा के प्रकाश को लेकर यह सब चन्द्र, सूर्य, तारे और विद्युत् प्रकाशित होते हैं। यदि परमात्मा इनको प्रकाश न दे, तो यह कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते। इनमें जो कुछ प्रकाश है, वह इनका अपना नहीं; किन्तु परमात्मा का दिया हुआ है। जैसे प्रत्येक आत्मा जानता है कि लोहे में स्वाभाविक गति नहीं। घड़ी-साज ने लोहे के पुरज़े बनाकर उनकी घड़ी बना दी और उसको चाबी देकर चला दिया। मूर्खों के विचार में तो घड़ी अपने स्वभाव से चल रही है, परन्तु बुद्धिमान् और विद्वान् जानते हैं कि घड़ी में जो गति है, वह घड़ी साज की दी हुई गति है। जितनी देर

तक उस चाबी का प्रभाव रहेगा, घड़ी चलती रहेगी। परन्तु उस नैमित्तिक प्रभाव को जो घड़ीकर्त्ता ने चाबी के द्वारा घड़ी में प्रविष्ट किया है। जिस समय पृथक् कर लिया जावे, तो घटिका वैसी की वैसी निर्गति लोहे की अवस्था में मौजूद होगी। इसी प्रकार जितने लोक हैं, सब परमात्मा की बनाई घड़ियाँ हैं, जो उसके नियम के अनुकूल चल रही हैं; स्वाभाविक किसी भी लोक में चलने की शक्ति नहीं। जितना प्रभाव जिस लोक में उस पूर्ण शिल्पकार ने रक्खा है, उतना ही वह लोक काम दे रहा है। यमाचार्य नचिकेता को बताते हैं कि जो कुछ प्रकाश है, वह सब परमात्मा का प्रकाश है। जब वह इस सब प्रकाश को देनेवाला है, तो उस प्रकाश से हम उसको कैसे देख सकते हैं। हाँ इस प्रकाश के तत्त्व पर विचार करने से तो मालूम हो सकता है कि जिससे यह प्रकाश आया है, वह परमात्मा है। जैसे घड़ी को चलते देखकर और उसमें लोहा आदि निर्गति वस्तुओं को देखकर समझदार आदमी समझ सकता है कि उसको किसी बलवान् ने चलाया है। क्योंकि लोहे में चलने की शक्ति नहीं, चाहे वहाँ पर घड़ीकर्त्ता दृष्टि न आये, परन्तु घड़ी का काम उसकी सत्ता को प्रकाश करता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा जीवात्मा के भीतर ही दृष्टिगत होता है बाहर प्रकृति में दृष्टि नहीं आता। यदि मालूम नहीं होता तो होने का क्या प्रमाण ?

उत्तर—परमात्मा प्रकृति में भी है, जिसका प्रमाण प्रकृति में नियमानुकूल संयोग तथा वियोग होता है। यद्यपि संयोग वियोग दो विपरीत गुण हैं, जो किसी एक वस्तु के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, अतः वह नैमित्तिक ही मानने पड़ते हैं। और कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो परमाणुओं को पकड़ कर संयुक्त अथवा वियुक्त कर सके और न पकड़ने का कोई शस्त्र दृष्टि पड़ता। सुतराम् वह चलनेवाला उसके भीतर ही मानना पड़ता है। क्योंकि गति दो ही प्रकार से आ सकती है। या तो प्राणादि

अंदर से दे, या कोई बाहर से खींचे ; अतः मानना पड़ता है कि गति भीतर से आती है। परमाणु में आकाश आदि के न होने से प्राणादि रह नहीं सकते। अतः परमात्मा ही से मानना पड़ता है। प्रकृति के मैला होने से उसके भीतर रहनेवाले परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब कुल पृथिवी पर पड़ता है, परन्तु देखा उसी स्थान में जाता है, जहाँ निर्मल जल या दर्पणादि हो। अतः परमात्मा के दर्शन आत्मा में ही हो सकते हैं।

इति द्वितीयाध्याये द्वितीया वल्ली

अथ तृतीया वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तदब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन॥
एतद्वैतत्॥ १।१०२॥

(शब्दार्थ) (ऊर्ध्वमूलः) ऊपर है जड़ जिसकी। (अवाक्-शाखः) नीचे की ओर जिसकी शाखा हैं। (एषः) यह मनुष्य शरीर जो दीखता है। (अश्वत्थ) पीपल के पेड़ की भाँति। (सनातनः) नित्य रहनेवाला। (तदेव) वही। (शुक्रम) शुद्ध जगत् कारण। (तत्) वह। (ब्रह्म) सब से बड़ा। (तदेव) वही। (अमृतम्) नाश रहित। (उच्यते) कहलाता है। (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में। (लोकाः) लोक। (अश्रिताः) ब्रह्म

ही सब लोकों का आधार है। (सर्वे) सब (तत् उ) उस ब्रह्म को। (न) नहीं। (अत्येति) उल्लंघन करता। (कश्चन) कोई।

(अर्थ) यही मनुष्य का शरीर ऐसा वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर को होती है और शाखा नीचे की ओर है। और यह वृक्ष सदा से सब वृक्षों के विपरीत ऐसा ही बनता है। इस शरीर का कारण वही ब्रह्म है, जो सबसे बड़ा होने पर भी नाश रहित है, जिसके आधार से यह सम्पूर्ण जगत् स्थापित है। कोई इसके नियम को तोड़ नहीं सकता।

प्रश्न—इस वृक्ष अर्थात् शरीर की जड़ क्या है, जो ऊपर को है ?

उत्तर—शिर इस वृक्ष की जड़ है और उदरादि इस वृक्ष का मोटा तना है, जो टाँगों से दो भागों में विभाजित होता है। पाँव और उँगलियाँ इत्यादि और हाथ सब इसकी शाखा हैं।

प्रश्न—शरीर को वृक्ष और शिर को जड़ और शेष भाग को शाखा नाम क्यों रक्खा ?

उत्तर—शरीर वृक्ष की भाँति सूखनेवाला है। जिस प्रकार वृक्ष का नाश होता है। उसी प्रकार शरीर का भी नाश होता है। यदि शिर को नीचे करके (शरीर) खड़ा किया जावे, तो यह शरीर वृक्षानुकूल ही प्रतीत होगा। अतिरिक्त इसके रस वृक्ष में जड़ से पहुँचा करता है, इस शरीर को भी शिर के द्वारा भोजन पहुँचता है, इस कारण शिर ही इस शरीर की मूल है। दूसरे प्रत्येक कर्म जो किया जाता है, उसका मूल ज्ञान है और कर्म शाखा है। बिना ज्ञान के कोई कर्म ठीक प्रकार हो नहीं सकता। और सब ज्ञानेन्द्रियाँ शिर में हैं। इस कारण जिस कर्म के लिये यह शरीर बना है, उसका मूल शिर में है और शेष कर्मेन्द्रियाँ जो शाखा रूप हैं, शरीर के नीचे के भागों में हैं। इस प्रकार और बहुत से कारण हैं, जिनके कारण शिर को मूल और शेष शरीर के भाग शाखा कहला सकते हैं।

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ । १०३ ॥

(शब्दार्थ) (यद्इदम्) यह जो प्रत्यक्ष देख पड़ता है । (किंच) बहुत कम । (जगत्) जो उत्पन्न और नाश वाला है । (सर्वम्) सब । (प्राणे) प्राण में गति होने से । (एजति) अपने कर्म के लिए हरकत करता है । (निःसृतम्) उत्पन्न हुआ । (महद्भयम्) भयंकर । (वज्रम्) वज्र । (उद्यतम्) जन्म-मरण का कारण है । (यः) जो मनुष्य । (एतद्) इस बात को । (विदुः) जानते हैं । (अमृताः) मुक्ति प्राप्त करनेवाले । (ते) वह । (भवन्ति) होते हैं ।

(अर्थ) यह जगत् जो परमात्मा से उत्पन्न हुआ है और जो परमात्मा से अत्यन्त छोटा है, वह जीवों के जीवन का कारण परमात्मा की सत्ता के कारण से है । और उसी के कारण सम्पूर्ण जगत् में गति-शक्ति पाई जाती है । जिस प्रकार घड़ी में जो चाल दृष्टिगोचर होती है, प्रत्यक्ष में तो वह चाल घड़ी के पुरजों के एक दूसरे के सम्बन्ध से मालूम होती है । वास्तव में वह चाल घड़ीकर्ता की गति के कारण है, जो वह चाबी देकर और घड़ी के पुरजों में नियम स्थापन कर देता है, उसी से होती है । इसी प्रकार जो गति-शक्ति संसार में दृष्टि आती है, वह जड़ और स्थिर प्रकृति के कारण से नहीं, किंतु परमात्मा के कारण से है । यह जगत् महा भयंकर है जिस प्रकार वज्रघात से चोट लगती है, इसी प्रकार जगत् के कार्यों में भय बना रहता है । बलहीनों को बलवानों से भय होता है । धनी पुरुषों का तस्कर बदमाश और राजा से भय होता है । छोटे राजाओं को बड़े राजा से डर लगता है और बड़े राजा को मृत्यु से भय होता है । सारांश यह कि संसार में ऐसा कोई

जीव नहीं, जो भयभीत न हो। क्योंकि यह उत्पन्न होनेवाला शरीर नाश होनेवाला है और किसी बड़े से बड़े जीव अथवा राजा की शक्ति नहीं, जो इस शरीर को मौत से बचा सके। जो मनुष्य इस बात को जान जाते हैं कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है और संसार के पदार्थों में मन का लगाना दुःख का कारण है।

केवल एक ईश्वर ही है, जिसकी उपासना से दुःख से बच सकते हैं। इस कारण वह जगत् से स्नेह त्याग कर परमात्मा के जानने का यत्न करते हैं। और जो परमात्मा को जानते हैं, वह मुक्त हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या जगत् में जो गति-शक्ति है, वह स्वाभाविक नहीं। जहाँ साइन्स से पता लगता है, हरकत प्रकृति के भीतर से ही प्रकट होती है, कोई बाहर से गति देनेवाला दृष्टि नहीं पड़ता।

उत्तर—ईश्वर सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबके भीतर ही विद्यमान है। अतः सबके भीतर से जो गति दृष्टि आती है, वह ईश्वर के कारण से है। ईश्वर एक देशी और स्थूल नहीं, जो बाहर से हिलता हुआ दृष्टि पड़े। जिस प्रकार शरीर को चलानेवाला जीवात्मा भीतर से हिलाता है। इसी प्रकार परमात्मा न जीवात्मा गति देता हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न—शरीर के भीतर जो चाल देखते हैं, वही लोहू गति के कारण से है और जगत् में जो गति-शक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह आकर्षण के कारण से है, न कोई जीवात्मा है न परमात्मा है।

उत्तर—यदि शरीर के भीतर अकेली हरकत ही होती, तो कह सकते थे कि इस हरकत का कारण लोहू का वेग है। परंतु शरीर में गति के साथ ज्ञान भी पाया जाता है कि कोई ज्ञान के साथ हिलाता है। तीन प्रकार की गति जो इच्छा के कारण से पाई जाती है, वह लोहू के वेग से नहीं हो सकती अर्थात्

करना न करना, उलटा करना। जिस प्रकार इंजन में गति स्टीम के कारण से होती है, परन्तु वह एक ही प्रकार की हो सकती है। परन्तु ड्राइवर की विद्यमानता से वह तीन प्रकार की हो जाती है। यदि इंजन में ड्राइवर विद्यमान न हो, तो तीन प्रकार की गति नहीं हो सकती। इसी प्रकार शरीर के भीतर तीन प्रकार की गति जीवात्मा की विद्यमानता से होती है। यदि जगत् में आकर्षण से गति होती, तो वह एक ही प्रकार की होती। जगत् में जो तीन प्रकार की गति हैं अर्थात् उत्पन्न होना, स्थिर रहना और नाश होना ; यह परमात्मा की सत्ता का प्रमाण देता है। आकर्षण तो परमात्मा के नियम से उत्पन्न होता है ; जैसे घड़ी के पुरज़ों में जो आकर्षण है, वह लोहे के कारण से नहीं, किन्तु वह घड़ीकर्ता के लोहे को ऐसा बनाने के कारण से है। परमाणुओं में तो आकर्षण मानकर कोई संयोग कर ही नहीं सकता।

क्योंकि समान शक्ति रखनेवाले पदार्थ, एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं, तो संयोग नहीं हो सकता। जब बड़ी वस्तु छोटी को अपनी ओर खींचे, तो संयोग हो सकता है। सो परमाणुओं को इस नियम से मिलना कि उनमें आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जावे, अतिरिक्त परमात्मा की शक्ति के सम्भव नहीं। जो मनुष्य बिना ईश्वर के जगत् के नियम को चलाना चाहते हैं वह बहुत थोड़े विचार के मनुष्य हैं। नहीं तो बुद्धिमान् जानता है कि जिस घड़ी में जो हरकत इन्तिज़ामी किसी ख़ास समय तक रहनेवाली है, जिससे पहले बता सकते हैं कि अमुक समय यह सुई इस स्थान पर होगी, और अमुक सुई इस स्थान पर। यह सब घड़ी कर्ता के नियम से चाबी देने के कारण से है। ऐसे जगत् के सब तारे जो नियम के भीतर चक्कर लगाते हैं। जिससे विद्वान् बता सकता है कि अमुक दिवस और समय में सूर्य-ग्रहण होगा, अमुक समय में चन्द्र-ग्रहण होगा। निदान, जिस प्रकार इंजन की स्टीम के अनुकूल तीन प्रकार की

चाल ड्राइवर की सत्ता का प्रमाण है, अकेली स्टीम से होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार शरीर में तीन प्रकार की चाल जीव की सत्ता का प्रमाण है। अकेले प्राणों से अथवा लोहू से यह गति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जगत् में नियमानुकूल जो कार्य हो रहा है। जिसका बन्धा हुआ प्रत्येक लोक कार्य कर रहा है, वह परमात्मा की हरक़त का प्रमाण है। इसको अगली श्रुति में और भी दर्शाते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३। १०४॥

(शब्दार्थ) (भयात्) भय से। (अस्य) इस ब्रह्म के। (अग्निः) आग। (तपति) जलाने के नियम को पालन करती या ऊपर की ओर को चलती है। (भयात्) भय से। (तपति) जलाता है, या प्रकाश देता है, या हरक़त करता है। (सूर्यः) सूर्य। (भयात्) भय से या नियम से। (इन्द्रः) विद्युत काम करती है। (च) और। (वायुः) वायु चलती है। (च) और। (मृत्युः) मौत। (धावति) दौड़ता है। (पञ्चमः) पाँचवें।

(अर्थ) परमात्मा के नियम से पंच पदार्थ गति करते हैं। कोई उनको इस नियम से अलग नहीं कर सकता। परन्तु परमात्मा का भय ऐसा बली है कि परमात्मा के नियम से अग्नि की लपट ऊपर को चलती है। यदि लाखों मनुष्य यत्न करें तो वह लपट नीचे की ओर नहीं चल सकती। परमात्मा के भीतर सूर्य काम करता है। जिस समय सूर्य दस बजे का हो, यदि करोड़ आदमी या जगत् के बड़े-बड़े महाराजे यत्न करें तो वह सूर्य ११ बजे या १२ बजे नहीं आ सकता। परमात्मा के नियम में विद्युत् चलती है। जो बड़ी से बड़ी वस्तु को फोड़कर निकल जाती है। कोई इसको रोककर उसकी गति को बदल नहीं सकता। परमात्मा के नियम में वायु चलती है, जिस

समय पूर्व की ओर चल रही हो। कोई उसको पच्छिम की ओर नहीं फेर सकता, परमात्मा के नियम में मौत काम करती है, जगत् के बड़े-बड़े राजा, लाखों सेनाओं, गढ़ों, तोपों, डायनामेंट के गोलों की विद्यमानता में एक क्षण के लिये भी मौत को रोक नहीं सकते। मौत परमात्मा का ऐसा वारन्ट है कि सबसे बड़े महाराजाओं को भी पकड़ ले जाता है। निदान परमात्मा के नियम को रोकने की शक्ति किसी में नहीं। यों तो परमात्मा के विरोधी बहुत से नास्तिक हो चुके हैं, अब विद्यमान भी हैं, और होंगे भी, परन्तु यह शक्ति किसी में नहीं कि परमात्मा के वारन्ट मौत से बच सके। सारी शक्ति और बल परमात्मा के नियम के भीतर ही काम दे सकता है। उसके नियम के विरुद्ध चलने से सब नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—श्रुति ने बताया है कि बिजली परमात्मा के नियम में चलती है। परन्तु बहुत से मनुष्य हैं, जो पदार्थ-विद्या के बल से विद्युत् से काम लेते हैं। उसको तार इत्यादि में बन्द करके निज नियम में चलाते हैं।

उत्तर—जिन पदार्थों में विद्युत् को क़ायम रखने की शक्ति परमात्मा ने रक्खी है, उससे वह काम लेते हैं। इसलिये वह परमात्मा के नियम के भीतर काम करते हैं, बाहर नहीं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य शस्त्र से किसी को मार देते हैं, यद्यपि उस समय उसकी मौत नहीं।

उत्तर—जिस समय मौत न आई हो, उस समय कोई शस्त्र काम नहीं देता। इसकी साक्षी महारानी विक्टोरिया के जीवन से मिलती है, कि सैकड़ों लोगों ने गोलियाँ चलाईं, परन्तु एक भी न लगी। और फ्रांस के प्रेसीडेण्ट आदि एक ही गोली से मर गये!

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ ४। १०५॥

(शब्दार्थ) (इह) इस शरीर में । (चेत्) यदि मनुष्य । (अशकत्) जान सके, सम्पूर्ण जगत् में जो क्रिया हो रही हैं, वह सब ब्रह्म की शक्ति है । (बोद्धुम्) जान । (प्राक्) पहिले । (शरीरस्य) शरीर के । (विस्रसः) नाश होने के । (ततः) इस ज्ञान से । (सर्गेषु) जगत् के आरम्भ में । (लोकेषु) पृथ्वी आदि लोकों में । (शरीरत्वाय) शरीर के कामों में । (कल्पते) समर्थ होता है ।

(अर्थ) यदि मनुष्य में, इस जन्म में इस बात के जानने की योग्यता हो जावे कि सब जगत् में जो क्रिया (हरकत) हो रही है, वह ब्रह्म की शक्ति से हो रही है । क्योंकि वह प्रकृति स्वाभाविक क्रिया की दशा में नहीं मिल सकती । और न केवल स्थिर होने की दशा में मिल सकती है । इसलिए शरीर के नाश से पहले उसका जान लेना आवश्यक है । और जब तक मनुष्य उसको न जान जाय, तो उसका परिणाम यह होता है कि सृष्टि के आरम्भ में जब जगत् के बनाने का समय होता है और पृथ्वी आदि लोक बनते हैं, तो वह शरीर को धारण करता है । अर्थात् जो जान जाते हैं, वह तो मुक्त हो जाते हैं । और जो नहीं जानते हैं, वह बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते हैं । वास्तव में मनुष्य का शरीर सृष्टि की अन्तिम (श्रेणी) सीढ़ी है । जो सब से नीचे पैदा होता है, और सब से पहले नाश होता है । यदि इस श्रेणी से मार्ग पर पहुँच गया, तो सफल हो गया । यदि गिर गया तो नीचे मार्ग में जा पड़ा । इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अवश्य विचार रखना चाहिये कि हम अन्तिम मार्ग पर आ पहुँचे हैं, जहाँ का थोड़ा सा आलस्य सब परिश्रम को निष्फल कर देगा । जितना भी शीघ्र सम्भव हो, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कहना चाहिये । जितने प्राकृतिक पदार्थ हैं, वह न तो जीवात्मा के लिये कभी लाभकारी थे, न अब हैं, और न आगे होंगे । क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों का प्रभाव आत्मा पर हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति स्थूल और आत्मा सूक्ष्म है ।

प्रश्न—सारे कर्म तो प्राकृतिक यन्त्रों से होते हैं, फिर प्रकृति जीवात्मा के लिये क्यों लाभकारी नहीं।

उत्तर—कर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धियाँ अपवित्र होती हैं। यदि कर्म बुरा किया जावेगा, तो मन पर अशुभ संस्कार पड़ेंगे, जिससे मन दूषित हो जावेगा। यदि कर्म शुभ और निष्काम होगा, तो मन शुद्ध हो जावेगा। यदि निष्काम और शुभ कर्म होंगे, तो संस्कार शुभ होंगे जिससे सांसारिक सुख होगा। कर्म से मुक्ति या आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती। आत्मा की उन्नति केवल परमात्मा के ज्ञान और उपासना से होती है।

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गंधर्व लोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५। १०६ ॥

(शब्दार्थ) (यथा) जैसे। (आदर्शे) दर्पण में अपना मुख आदि देखता। (तथा) वैसे ही। (आत्मनि) शुद्ध निर्मल बुद्धि रूप अन्तःकरण में ध्यान योग से आत्मा देखता है। (यथा) जैसे। (स्वप्ने) स्वप्न अवस्था में इन्द्रियों और वस्तु का सम्बन्ध होने पर भी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दीखते वा सुन पड़ते हैं। (तथा) वैसे। (पितृलोके) ज्ञानी जनों के किये उपदेश में बँधे हुए ध्यान से आत्मा देखता। (यथा) जैसे। (अप्सु) जल में। (परीवददृशे) सब ओर से गोलाकार स्पष्ट अवयवों की प्रतीत के विना शरीर देखा जाता है। (तथा) वैसे। (गन्धर्वलोके) गानेवालों ने किये, विज्ञान-सम्बन्ध गान में किये ध्यान से आत्मा देखा। (छायातपयोरिव) जैसे छाया और घाम में स्पष्ट भेद प्रतीत होता वैसे। (ब्रह्मलोके) ब्रह्माण्ड मूर्द्धा मस्तक में किये निर्बीज निर्विकल्प समाधि से बुद्धि और पुरुष और पुरुष का साफ़ भेद देख पड़ता है।

(अर्थ) सब ध्यानों में मूर्द्धा में किया ध्यान ही सब से

उत्तम है। वहाँ समाधि जहाँ ब्रह्मरूप आत्मा को स्पष्ट जान के मनुष्य मुक्त होता है।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। पृथ-गुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।६।१०७।

(शब्दार्थ) (इन्द्रियाणां) आँख, नाक, कान इत्यादि ज्ञान इन्द्रियाँ और जिह्वा इत्यादि कर्म इन्द्रियों की। (पृथग्भावम्) पृथक् सत्ता को अर्थात् यह जीवात्मा से पृथक् हैं, आत्मा नहीं। (उदयास्तमयौ) उन्नति अवनति जन्म-मरण वाली। (च) और। (यत) जो हैं अर्थात् इन्द्रिय उत्पन्न और नाश होती हैं। (पृथक्) अपने स्वरूप से पृथक्। (उत्पद्यमानानाँ) पृथक् और उत्पन्न हुई वस्तु को। (मत्वा) जान कर। (धीरः) बुद्धिमान्। (न) नहीं। (शोचति) शोच करता है।

(अर्थ) जब तक मनुष्य इन्द्रियों को अपना स्वरूप जानता है, तब ही तक दुःख और शोच रहता है, क्योंकि इन्द्रियाँ उत्पन्न होने से विकारवाली हैं। जिस समय मनुष्य को यह विचार हो जाता है कि मैं जीवात्मा हूँ, जो नित्य हूँ। और यह इन्द्रियाँ उत्पन्न और नाश होनेवाली हैं, यह मेरा स्वरूप किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यह इन्द्रियाँ मेरे स्वरूप से पृथक हैं। क्योंकि कोई उत्पन्न होनेवाली नित्य के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकती। जब इन्द्रियाँ मुझसे पृथक् हैं, तो इनके विकारों से मेरी लाभ हानि ही क्या है। मैं नित्य हूँ, मुझमें तो कोई विकार नहीं, परन्तु यह शुद्ध और वह विकारवाली हैं। अतः मुझे अपने कर्तव्य का यथावत् पालन उचित है। इन्द्रियों के विकार में लिप्त होना नितान्त भूल है। निदान, वह शरीर और इन्द्रियों से निश्चिन्त हो जाता है. नित्यात्मा की किसी प्रकार हानि नहीं हो सकती, क्योंकि समस्त क्लेश जन्म और मरण नाशवान इन्द्रियों द्वारा ही हैं।

देखते हैं। खुर्दबीन के द्वारा सूक्ष्म वस्तु देखते हैं। साधारण प्रकार से न सूक्ष्म दीखता है, न दूर। इससे आँख की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु यन्त्रों में अन्तर है, और जीवात्मा अखण्ड है। इस कारण यंत्रों का तारतम्यता से कार्य में अन्तर आने से, वह विकार वाला नहीं कहला सकता।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्त मुत्तमम्॥
॥७।१०८॥

(शब्दार्थ) (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रिय और इसके अर्थ से। (परम्) सूक्ष्म है। (मनः) मन। (मनसः) मन से। (सत्त्वम्) बुद्धि। (उत्तमम्) उत्तम है। (सत्त्वात्) बुद्धि से। (अधि) उत्तम या सूक्ष्म। (महानात्मा) सृष्टि का मन है। (महतः) सृष्टि के मन से। (अव्यक्तम्) प्रकृति। (उत्तमम्) उत्तम या सूक्ष्म है।

(अर्थ) इन्द्रिय और विषयों से मन सूक्ष्म है। और मन से भी अधिक बुद्धि सूक्ष्म है, क्योंकि वह मन की प्रकृति है। और बुद्धि से सूक्ष्म ब्रह्मांड का मन है। और ब्रह्मांड के मन से सूक्ष्म प्रकृति है।

प्रश्न—तुमने यहाँ मन के दो भेद किये हैं, एक शरीर का मन, दूसरे ब्रह्मांड का मन। यह विभाग किस प्रकार किया?

उत्तर—एक स्थान पर छान्दोग्य ने मन का भोजन से बनना स्वीकार किया है। दूसरे साँख्य में मन का बनना प्रकृति से, जिसको महत् के नाम से कहा है। खुराक से बना हुआ मन छोटा और शरीर के भीतर हो सकता है; बाहर नहीं। और प्रकृति से बना हुआ मन, जिसके महापरिमाण वाला से, महत्त्व बन गया है अर्थात् जो ब्रह्मांड का मन

होने से महत् नाम से युक्त है । परमात्मा को पुरुष कहते हैं; जिसका शरीर ब्रह्मांड कहला सकता है । इस ब्रह्मांड के शरीर में सांख्य-सिद्धान्तानुकूल जन्म के लिये अहङ्कार की आवश्यकता है ; और अहङ्कार मन का कार्य है । जब तक मन न हो, अहङ्कार हो नहीं सकता ।

प्रश्न—ब्रह्म को अहंकार की क्या आवश्यकता है ? ऐसा मानना ठीक नहीं ।

उत्तर—बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि इस सृष्टि से पहले ब्रह्म था, उसने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ । जिसको लेकर आज कल के नवीन वेदान्ती यजुर्वेद का महा-वाक्य कहते हुए, जीव ब्रह्म की एकता कहते हैं ।

प्रश्न—क्या उपनिषद् ने अपनी ओर से ही लिख दिया, अथवा इसका मूल वेद से भी मिलता है ।

उत्तर—यजुर्वेद अध्याय ४० के मन्त्र १७ में परमात्मा ने कहा है कि जो पुरुष सूर्य के भीतर भी प्रकाश करता है, वह मैं हूँ ।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिंग एव च ।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ।
॥ ८ । १०६ ।

(शब्दार्थ) (अव्यक्तात्) जगत् के कारण प्रकृति से । (तु) भी । (परः) सूक्ष्म । (पुरुष) परमात्मा है । (व्यापकः) सब में व्यापक अर्थात् सबके बाहर भीतर । (अलिंगः) जो इन्द्रियों के विषयों से परे है । (एव) भी । (च) और । (यत्) जिसको । (ज्ञात्वा) जानकर । (मुच्यते) छोड़ जाता है । (जन्तुः) जीवात्मा । (अमृतत्वं) अमृत पद को । (च) और । (गच्छति) जाता अर्थात् प्राप्त करता है ।

(अर्थ) प्रकृति से सूक्ष्म परमात्मा है, और वह प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में व्यापक है। कोई वस्तु नहीं, जिसके भीतर बाहर परमात्मा विद्यमान न हो। वह सबसे सूक्ष्म है, इस कारण उसका कोई चिह्न इन्द्रियों से अनुभव नहीं हो सकता। केवल एक वही है, जिसके जानने से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है, और अमृत अर्थात् मृत्यु-रहित अवस्था को प्राप्त करता है।

प्रश्न—मुक्ति को अमृत क्यों कहा ? क्योंकि तुम मुक्ति से लौटना स्वीकार करते हो।

उत्तर—जीवात्मा की दो अवस्था हैं; एक वह जिसका परिणाम मौत होता है, जिसको मृत्यु कहा गया है। अर्थात् पुनर्जन्म के द्वारा शरीर में प्रवेश करना। दूसरे वह जिसका परिणाम जन्म है, मौत नहीं ; जिसको अमृत कहा गया है। अर्थात् विना शरीर, भीतर रहनेवाले परमात्मा से जिसमें आनन्द प्राप्त किया जाता है, जिसको मुक्ति कहते हैं। यदि मुक्ति में शरीर होता, तो उसका परिणाम मौत होता। मुक्ति में प्राकृतिक शरीर नहीं होता, जिसके वियोग का नाम मौत हो, अतः उसको नाम अमृत रक्खा गया।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य मुक्ति से लौटने से इन्कार करते हैं, उनका कथन है, जिससे लौट आये, वह मुक्ति ही क्या है ?

उत्तर—मुक्ति के अर्थ छूटना है, छूटता वह है जो पहले बँधा हो। बंधन के अर्थ बँधना है, बँधता वह है जो स्वतंत्र है। अतः यह शब्द ही बता रहे हैं कि मुक्ति बँधता है। यदि मुक्ति को बंधन न माना जावे, तो बंधन स्वाभाविक मानना पड़ेगा। इस कारण मुक्ति का होना असम्भव हो जावेगा। निदान, जो लोग मुक्ति से लौट आने को नहीं मानते, उन्होंने इस सिद्धांत को विचारा नहीं और शंकराचार्यादि मुक्ति से लौटना मानते हैं।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य.
एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६।१०॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (सन्दृशे) सामने। (तिष्ठति) ठहरना, खड़ा होना। (रूपम्) रूप। (अस्य) उस ब्रह्म का। (न) नहीं। (चक्षुषा) नेत्र से। (पश्यति) देखता। (कश्चन) कोई मनुष्य। (एनम्) उस ब्रह्म को। (हृदा) दोहे में रहने-वाले। (मनीषा) बुद्धि रूप। (मनसा) सत्यासत्य विचार शक्ति से। (अभिक्लृप्तः) प्रत्येक स्थान और दिशा से प्रकाशक परमात्मा जाना जा सकता है। (यः) जो मनुष्य। (एतत्) इस परमात्मा को। (विदुः) जान जाते हैं। (अमृताः) मृत्यु रहित। (ते) वह पुरुष। (भवन्ति) होते हैं।

(अर्थ) किसी मनुष्य के नेत्रों के सम्मुख उस परमात्मा का कोई रंग और रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिये, नेत्रों से कोई मनुष्य परमात्मा को देख नहीं सकता। क्योंकि नेत्र उसी वस्तु को देख सकते हैं, जिसमें रूप हो। किसी रूप से रहित वस्तु को नहीं देख सकते। अब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जब वह रूप से पृथक् है, तो जाना किस प्रकार जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं।

नोट—श्री स्वामी दर्शनानन्दजी का किया हुआ भाष्य यहाँ पर समाप्त होता है। इससे आगे पदच्छेद और भावार्थ दिया है, ताकि पाठकगण, सम्पूर्ण कठोपनिषद् का पाठ कर सकें। इसी प्रकार नं० ५ श्रुति का भी पदच्छेद भावार्थ दिया गया है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥
॥ १० । ११ ॥

(शब्दार्थ) (यदा) जब । (पंच) पाँच । (ज्ञानानि) योगाभ्यास द्वारा अपने-अपने देशों से हटाये गये, नेत्रादि ज्ञान इन्द्रिय । (मनसा) मन के साथ । (अवतिष्ठन्ते) चंचलता रहित स्थिति होते हैं । (च) और जब । (बुद्धि) सतोगुण युक्त बुद्धि । (न विचेष्टते) कार्यों में विरोध नहीं चलती, विद्वान् लोग । (ताम्) उस । (परमाम्) सर्वोत्तम । (गतिम्) अवस्था की जीवन-मुक्ति दशा । (आहुः) कहते हैं ।

(अर्थ) जब मनुष्य के इन्द्रिय रूप निकलनेवाली बाह्य वृत्ति और भीतर अन्तःकरण में ठहरनेवाली बुद्धिरूप वृत्ति, सब उपद्रवों से रहित शान्ति स्थिति होती है, किसी प्रकार अपने नियत स्वभाव से विरुद्ध नहीं होती ; तब जीवनमुक्त दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी जीवात्मा के लिये, मुक्ति का द्वार खुला समझना चाहिये ।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिंद्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ
॥ ११ । ११२ ॥

(शब्दार्थ) (ताम्) उस । (स्थिराम्) अचल । (इन्द्रिय-धारणाम्) इन्द्रियों की धारण रूप दशा को ज्ञानी लोग । (योगम् इति) योग सिद्धि या योग का फल है, ऐसा । (मन्यन्ते) मानते हैं । (तदा) तब योगी । (अप्रमत्तः) प्रमाद रहित उदासीन । (भवति) होता है । (हि) जिस कारण । (योगः) योग सिद्धि होने पर । (प्रभवाप्ययौ) पहले दुष्ट संस्कारों का विनाश और सतोगुण को वृद्धिकारक कल्याणकारी शुद्ध नवीन संस्कारों की उत्पत्ति होती है ।

(अर्थ) जब योगाभ्यास से सब इन्द्रियाँ दृढ़ रूप से स्थिर हुई जीत ली जाती हैं, तब योग-सिद्धि होने का अनुमान निश्चय

हो जाता है । योग की प्रवृत्ति में नवीन शुद्ध संस्कारों की प्रकटता और पहले दुष्ट संस्कारों का अन्तर्ध्यान हो जाता है, तब स्वरूप में स्थित प्रमादरहित द्रष्टा जीवात्मा यथार्थ रूप से सब को जानता है ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तदुपलभ्यते
॥ १२ । ११३ ॥

(शब्दार्थ) (नैववाचा) न तो वाणी से । (मनसा) न मन से । (न चक्षुषा) न नेत्र से और अन्य इन्द्रियों से ब्रह्म । (प्राप्तुं) प्राप्त । (शक्यः) हो सकता है किन्तु । (अस्तीति) ब्रह्म है ऐसा । (ब्रुवतः) कहते हुए से । (अन्यत्र) दूसरे प्रसंग में । (तत्) वह । (कथम्) किस प्रकार । (उपलभ्यते) प्राप्त होता है । अर्थात् किसी प्रकार नहीं अर्थात् कोई सब का नियन्ता, सब का उत्पादक, सब का आधार, सब को स्वामी है, जिसका स्वामी कोई न हो क्योंकि यह काम बिना कर्ता के नहीं हो सकते, इस प्रकार उसकी विद्यमानता का निश्चय कर ध्यान से ईश्वर को प्राप्त हो सकता है ।

(अर्थ) शब्दादि विषय इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं । और परमेश्वर शब्दादि विषयों में से कोई एक नहीं है, जो कि इन्द्रियों से ग्रहण किया जावे । आस्तिक लोग कहते हैं, कि परोक्ष परमात्मा कोई अवश्य है । क्योंकि वस्तुओं में बहु प्रकार का न्यूनाधिक भाव मिलता है; न्यूनाधिक होने की कहीं सीमा या समाप्ति नहीं देखी जाती और सीमा अवश्य होना चाहिये । संसार में एक से अधिक दूसरा विद्वान् वा धनवान् दिखाई देता है, जिससे अधिक विद्वान् अथवा ऐश्वर्यवाला कोई नहीं । जहाँ सब न्यूनाधिक भावों की सीमा या समाप्ति

हो जाती है, वहीं परमेश्वर है। इस जगत् का कर्ता कोई अवश्य है। क्योंकि जगत एक प्रकार की बनावट है। घड़े आदि के तुल्य जैसे घट आदि बनावटी पदार्थ कुम्हार आदि बनानेवाले के बिना नहीं बन सकते। इससे कार्य होने से इस जगत् का कर्ता ईश्वर है। क्योंकि अनन्त शिल्पकारी और नाना प्रकार की रचना से युक्त इस जगत् का बनाना किसी अल्पज्ञ मनुष्य का काम नहीं। इससे इस सब प्रत्यक्ष जगत् का रचनेवाला विद्वान् सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् जो कोई है, वही परमेश्वर है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥

॥ ३३। ११४ ॥

(शब्दार्थ) (उभयोः) होने न होने दोनों में। (तत्त्व-भावेन) आकाशादि पंचतत्त्व सम्बन्धी कार्य वस्तुओं की विद्य-मानता। (च) और सतोगुण रूप सूक्ष्म बुद्धि से इस सबका नियन्ता परोक्ष कोई ईश्वर। (अस्ति) है। (इत्येव) इसी प्रकार। (उपलब्धव्यः) प्राप्त होने योग्य है, यदि न हो तो पंच तत्त्व किसी नियन्ता के बिना निरालम्ब नियम पूर्वक कैसे ठहरें। (अस्तीत्येव) है ऐसे ही विश्वास से। (उपलब्धस्य) ध्यान से प्राप्त होनेवाले मनुष्य का। (तत्त्वभावः) चेतन्य शरीर और इन्द्रियों का समुदाय। (प्रसीदति) शोक मोह रहित प्रसन्न होता है।

(अर्थ) परमात्मा के ध्यान में निष्ठ आस्तिक पुरुष को ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवद्गीता में कहा है कि चित्त की शुद्धि प्रसन्न होने से सब दुःखों की हानि हो जाती है। और जिसका चित्त प्रसन्न व निर्मल, निष्कलंक है, उसकी बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है। ऐसा होने से नास्तिक को सुख कदापि नहीं

मिल सकता। इनसे अस्ति-नास्ति दोनों में से अस्ति को मानता हुआ ही कल्याण का भागी होता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः ,
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
॥१४।११५॥

(शब्दार्थ) (यः) जो। (अस्य) इस जीवात्मा के। (हृदि) अन्तःकरण में। (श्रिताः) वासनाओं से बसाई हुई। (कामः) मैथुन की अभिलाषा। (सर्वे) सब हैं वे। (प्रमुच्यन्ते) जब वैराग्य के सेवन से दूर हो जाती हैं। (अथ) तब। (मर्त्यः) मनुष्य। (अमृतः) मुक्त। (भवति) होता और। (अत्र) इस मुक्त दशा में। (ब्रह्म) ब्रह्म को। (समश्नुते) सम्यक् प्राप्त होता है।

(मर्म) जब तक विषय भोगों में राग और उससे विपरीत में द्वेष की निवृत्ति नहीं होती, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। जब अनादि काल से संचित विषय की उत्कंठा योगाभ्यास द्वारा हृदय से दूर हो जाती है तब विवेकी पुरुष जन्म-मरण के प्रवाह रूप ग्राह से छूट ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्
॥ १५ । ११६ ॥

(शब्दार्थ) फिर इसी बात को दृढ़ करते हैं। (यदा) जब। (इह) इसी जन्म में। (हृदयस्य) अन्तःकरण की। (सर्वे) सब। (ग्रन्थयः) गाँठें। (कि मैं बालक, युवा, वृद्ध, काना, गंजा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक हूँ, मैं जन्मा हुआ मरूँगा और किसी को मार डालूंगा आदि वासना रूप रस्सों में

दृढ़तापूर्वक लगी हुई। (प्रभिद्यन्ते) छूट जाती हैं, तो विचारता है कि यह बाल्यादि शरीर के धर्म हैं, मैं जीवात्मा शुद्ध नित्य हूँ, मैं स्वरूप से विकारी नहीं होता, ऐसा ज्ञान गाँठों का छूटना है। (अथ) तब। (मर्त्यः) मनुष्य। (अमृतः) मुक्त। (भवति) होता है। (एतावत्) इतना ही। (अनुशासनम्) शास्त्र की शिक्षाव उपदेश है, ऐसा करने से अनिष्ट को छोड़कर इष्ट को प्राप्त होता है।

(अर्थ) जब मनुष्य के हृदय के बंधन छूट जात हैं, तब वह मुक्त होता है। इससे हृदय के बंधन छूटने के लिये बड़ा प्रयत्न करना चाहिये, इससे परे ज्ञानी को कुछ कर्तव्योपदेश नहीं है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति॥

॥ १६। ११७ ॥

(शब्दार्थ) (हृदयस्य) हृदय में ठहरनेवाली। (शतम्) सौ। (च) और। (एका) एक। (नाड्यः) नाड़ी में। (तासाम्) उनके बीच। (अभिनिसृताः) जा निकली है। (तया) उस नाड़ी के साथ। (ऊर्ध्वम्) एकादश द्वारों में जो ब्रह्मांड का छिद्र रक्खा है, उसके द्वारा। (आयन्) शरीर है, निश्चलता मरता हुआ जीवात्मा। (अमृतत्वम्) मुक्ति को। (एति) प्राप्त होता है, उस नाड़ी को छोड़ अर्थात् अन्य नाड़ी द्वारा मरा हुआ, संसार के प्रवाह को प्राप्त होता है।

(अर्थ) अपने मरने का समय योगी पूर्व से ही जानता है। शरीर से निकलने का समय आने से पूर्व ही योगी अपने आत्मा को वश में करके, सुषुम्णा नाड़ी के साथ युक्त करे।

उस नाड़ी द्वारा शरीर से निकला हुआ जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त होता है। जीव नाड़ियों के द्वारा ही निकलते हैं। अविद्या में फँसे हुए नहीं जानते कि हम कौन हैं और कब और कैसे निकल जाते हैं। जिसने योगाभ्यास नहीं किया, वह मरण समय ब्रह्मांड द्वारा नहीं मर सकता, इस कारण पहिले ही योगाभ्यास करना चाहिये।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७। ११८ ॥

(शब्दार्थ) (अंगुष्ठमात्रः) उक्त प्रकार से अंगुष्ठमात्र स्थान में ठहरनेवाला। (जनानम्) प्राणियों के। (हृदये) हृदय में। (सदा) सदा। (सन्निविष्टः) अवस्थित। (पुरुषः) शरीर इन्द्रियों के समुदाय का रक्षक। (अन्तरात्मा) जीवात्मा है। (तम्) उसको। (मुंजादिव) मुंज से जैसे। (इषीकाम्) सींक व सिरकी को खींच लेते हैं। (धैर्येण) प्रमाद रहित होके धीरे-धीरे। (प्रवृहेत्) पृथक् कर। (तम्) उस जीवात्मा को वास्तव स्वरूप से। (अमृतम्) अभिनाशी स्वभाव से राग द्वेषादि दोष रहित। (शुक्रम्) पवित्र निर्मल। (विद्यात्) जाने। यहाँ पर दो बार पाठ ग्रन्थ-समाप्ति के लिये आया है।

(अर्थ) जीवात्मा को सब से अधिक प्रिय अपना शरीर है। अनादि काल से उस शरीर में सुख भोगे और भोगता है, इससे उसमें राग है, यही बन्धन और ग्रन्थि है। अविद्या में ग्रसित यह जीव, शरीर से पृथक् होना नहीं चाहता और शरीर विवश छोड़ना पड़ेगा। ऐसा जान के बड़ा कष्ट मानता है। उस ऐसे हृदय में वास करते हुए अंगुठामात्र स्थान में

स्थित जीवात्मा को योगाभ्यासादि साधनों को करके शरीर के बन्धनों से छुड़ा दे, जिससे फिर शरीर धारण करने की इच्छा न करे, किन्तु घृणा करे। यह उपनिषद् यहीं समाप्त हो गया, यह दो बार पढ़ने से सूचित होता है।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्यो-
ऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८।११६ ॥

(शब्दार्थ) (अथ) अब इस उपनिषद् में कही हुई ब्रह्मविद्या का फल कहते हैं। (मृत्युप्रोक्ताम्) यमाचार्य ने कही। (एताम्) इस। (विद्याम्) ब्रह्मविद्या को। (च) और। (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण सांगोपांग। (योगविधिम्) योग के विधान का। (नचिकेताः) नचिकेता आचार्य से। (लब्ध्वा) प्राप्त होके। (ब्रह्मप्राप्तः) ब्रह्म को प्राप्त हुआ। (विरजः) विरक्त और। (विमृत्युः) मृत्यु रहित जीवन मुक्त। (अभूत) हुआ। (अन्य) और। (अपि) भी। (यः एवंवित) जो इस उक्त प्रकार गुरु की सेवा से विद्वान्। (अध्यात्मेव) अध्यात्म विद्या की ही प्राप्त अर्थात् उक्त प्रकार इन्द्रियों की ब्रह्मशक्ति को रोक के भीतरी ध्यान में प्रवृत्त हो और विरक्त हुआ मुक्त होने योग्य है।

(अर्थ) नचिकेता गुरु के उपदेश से ब्रह्मविद्या और फलसहित सम्पूर्ण योगाभ्यास के विधान को प्राप्त हुआ। अन्य भी जो ब्रह्मज्ञान की इच्छा करे, उसका चाहिये कि गुरु की सेवा-टहल से और दूसरे यथाशक्ति साधनों से ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो के सब दुःखों से छूटे।

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१६।१२०॥

(शब्दार्थ) अब समाप्ति में प्रार्थना और शान्ति कहते हैं। (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों को। (सह) साथ ही परमेश्वर। (अवतु) तृष्णा को छुड़ा के तृप्त सन्तुष्ट करे। (नौ) हम दोनों की। (सह) साथ। (भुनक्तु) रक्षा करे, हे परमेश्वर आप की कृपा से हम दोनों। (वीर्यम्) ब्रह्मविद्या के अभ्यास से हुए, सुख दुःख इत्यादि द्वंद व सहन आदि रूप सामर्थ्य। (सह) साथ। (करवावहै) सिद्ध करें। (नौ) हम दोनों का। (अधीतम्) पढ़ना पढ़ाना। (तेजस्वि) ब्रह्म के तेज से युक्त हों, हम दोनों। (मा विद्विषाव है) आपस में कभी द्वेष न करें। (ओ३म्) परमात्मन् आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमारे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक यह त्रिविधि दुःख, शान्त होकर अत्यन्त पुरुषार्थ के परिणत रूप मोक्ष सुख को प्राप्त होवें।

(अर्थ) सब कर्मों के आदि और अन्त में परमेश्वर की प्रार्थना और उपद्रव और दुःख को हटाने के लिये शान्ति कहनी चाहिये। जब गुरु और शिष्य के अन्तःकरण में लेशमात्र भी भेद न हो, किन्तु दोनों का अन्तःकरण शुद्ध परस्पर प्रीति बढ़ानेवाला प्रार्थना में रँगा कोमल हो, तब विद्या सफल होती है; जिससे आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों की शान्ति हो।

नोट—इस मन्त्र में कर्त्ता क्रिया के दो वचन पढ़ने से, गुरु, शिष्य व स्त्री पुरुष आदि दोनों को मिलकर ईश्वर की प्रार्थना और शान्ति कहनी चाहिये। ओ३म् शम्।

हिन्दी अनुवाद कठोपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म्
शान्तिः शान्तिः शान्तिः